सुराज्य-विज्ञान
सत्यमेव जयते
विश्वशान्ति प्रचार संस्था
LACHKE
लेखक: शुद्धेश सिद्धवीर स्वामी बनहट्टीकर

सुराज्य-विज्ञान

लेखक व प्रकाशक :—

श्री सुरेश सिद्धवीर स्वामी वनहट्टीकर

विश्व-शान्ति-प्रचार संस्था, मु० पो० डोणगोपुर

ता० भालकी, जि० बीदर, एन० एस० आर०

—:❀:—

मुद्रक :—

कुन्दनमल डांगी

वर्धमान प्रिंटिंग प्रेस, निम्बाहेड़ा (राजस्थान)

शाके १८७३ }
सन् १९५२ }

{ मूल्य
{ २॥) रुपये

अनुक्रमणिका

—❀—

श्री सिद्धवीर स्वामी बनहट्टीकर
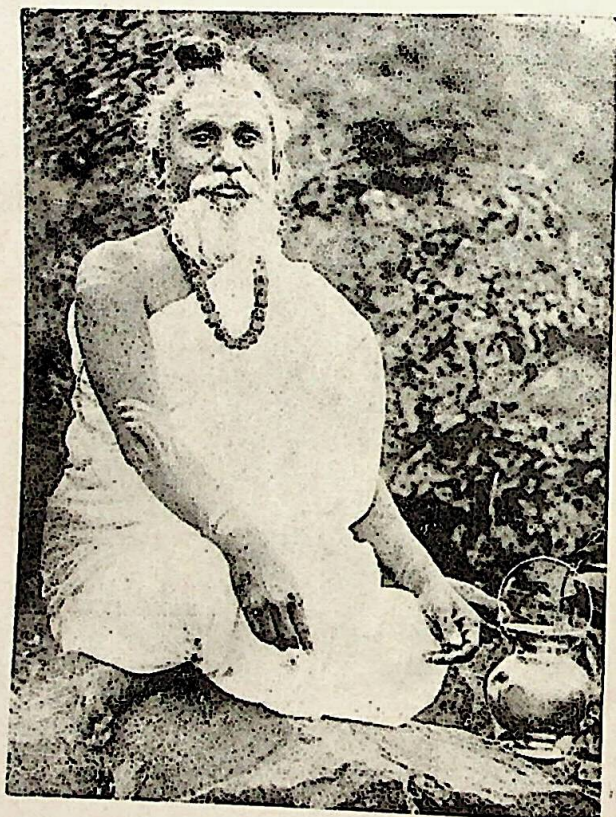
संस्थापक, विश्वशान्ति-प्रचार-संस्था डोणगोपुर।

लेखक का निवेदन

प्राणि–मात्र में आहार, निद्रा, भय और मैथुन का सामान्य ज्ञान रहता ही है परन्तु मनुष्य में मन और बुद्धि की विशेषता है और मनुष्य को सुख-शान्ति की इच्छा भी अधिक होती है यहाँ तक कि वह यह भी चाहता है— "मैं अमर रहूँ!" ऐसी उत्तम इच्छा मनुष्येतर प्राणी में नहीं होती। इस पर से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य ही मन, बुद्धि और ज्ञान की अपेक्षा सर्व श्रेष्ठ प्राणी है।

मनुष्य को सुख-शान्ति की इच्छा विशेष होती है इसलिये उसे सुख-शान्ति के लिये विशेष विचार करना आवश्यक है। भोग पदार्थ को सुख समझना भूल है, लौकिक, पारलौकिक और पारमार्थिक कैसे भी सुख की इच्छा हो अपनी भावना के अनुकूल परिस्थिति को सुख कहते हैं। एक ही वस्तु एक समय में किसी को अनुकूल भी हो सकती है, तो दूसरे समय में वही वस्तु

प्रतिकूल भी हो सकती है और किसी तीसरे को उ
समय अनुकूल भी। एक समय एक मनुष्य किसी
मित्र मालूम होता है तो वही मनुष्य दूसरे को शत्रु
मालूम हो सकता है और पुत्र, सन्तति और सम्पत्ति आ
ऐसी वस्तुएँ हैं जो अपने को ही सुख रूप मालूम हो
हैं और दूसरे उनके विषय में मध्यस्थ होते हैं। कह
का उद्देश्य यह है कि सुख और दुःख का सम्बन्ध भावना
है। ऐसा होने पर भी अनुकूल और प्रतिकूल वस्तु
का विचार भावना के सामने आने का कारण यह है
मनुष्य कर्तृत्व शक्ति में स्वतन्त्र है जिससे इष्ट या अनि
कार्य करते समय अपनी मर्यादा तक ही ज्ञान-शक्ति
उपयोग कर सकता है। एक बार कार्य होगया
उस कार्य के विषय में मानवीय शक्ति का उपयोग
होता क्योंकि सब कार्य उसके प्राण और भावतत्त्व
अदृश्य अवस्था में सूक्ष्म रूप से संग्रहीत रहते हैं
कर्मों का परिणाम इष्ट हो कि अनिष्ट— अमुक प्रकार
भोग प्राप्त होंगे ही ऐसा निश्चय मानवीय शक्ति नहीं
सकती। इष्ट और अनिष्ट सब कर्मों का विकास
उसके परिणाम स्वरूप सुख दुःख रूप प्रत्यक्ष भोग
का काम निसर्ग शक्ति के स्वाधीन है। कहने का ता
यह है कि मनुष्य अपने बुद्धि-सामर्थ्य का उपयोग मार
दित काल और परिस्थिति तक ही कर सकता है। इस

उदाहरणार्थः—कृषि-विज्ञान शास्त्र में मनुष्य कर्त्ता है और भूमि स्वभाव-सिद्ध है फिर भी खेत खोदना, हल जोतना इत्यादि पृथ्वी-शुद्धि से लगा कर बीजारोपण तक मनुष्य अपने ज्ञान का उपयोग करता है। जो बीज बोता है उसका फल उसी धान्य के रूप में प्राप्त होता है फिर भी बीज से अंकुर, पल्लव, पुष्प और फल आदि का क्रमिक विकास, पर्जन्य वृष्टि, योग्य वायु, योग्य उष्णता-मान आदि सब निसर्ग शक्ति के आधीन है। यह ठीक है कि धान्य का भोक्ता मनुष्य ही है फिर भी बीच में कुछ समय तक निसर्ग शक्ति का नियन्त्रण मानना पड़ता है। उसी प्रकार मनुष्य वर्तमान काल में इष्ट और अनिष्ट कर्म करता है। उन कर्मों का फल वह भविष्य काल में सुख दुःख रूप से भोगता है। परन्तु इष्ट और अनिष्ट सब कर्मों के दृश्य का आवरण प्राण और भाव तत्त्व में पूर्ण विकसित होता है और जब प्रत्यक्ष भोग रूप से विभाजन होता है तब कुछ अपेक्षित शरीर मन और बुद्धि सम्बन्धी आयुष्य, आरोग्य, सन्तति, सम्पत्ति, वंध्या, व्याधि, चिन्ता और दारिद्र्य इत्यादि द्वन्द्वों का अनुभव सुख दुःख रूप में प्रत्यक्ष क्रमबद्ध भोग विभाजन रूप में अनुभूत होता है। सारांश यह है कि मनुष्य के द्वारा इस जन्म में किया हुआ इष्ट और अनिष्ट कर्म क्रमशः दूसरे जन्म में सुख दुःख रूप में जब तक उदय

में नहीं आता तब तक निसर्ग शक्ति के नियन्त्रण
रहना पड़ता है। मानव के हृदय में कर्तृत्व शक्ति स
जागृत रहती है इसीलिये मनुष्य भोक्ता है और मान
वस्तुएँ भोज्य हैं। मानव योनि में विशेष दुष्कर्म
अल्प सुकर्म किये गये हों तो उन कर्मों का परिपाक हो
के मानवेतर योनियों में जन्म लेकर भोग विभाजन क
पड़ता है। मानव योनि में भोगोत्पादन और भोग वि
जन दोनों ही कार्य चालू रहते हैं। सब मनुष्यों
लिये अस्तित्व में आई हुई भोग वस्तु का उपयोग सु
रीति से किस प्रकार हो सकता है इस काम में राष्
प्रयत्न चालू रहता है परन्तु राष्ट्र द्वारा कितनी भी व्यव
की जाय फिर भी यथायोग्य उपभोग करने
पात्रता मनुष्यों में धर्म के ही द्वारा लाई जा सकती है।

उदाहरणार्थः—राष्ट्र की सम्पूर्ण जनता को ज्ञाना
कराने के लिये शिक्षण संस्थाएँ स्थापित की गई हैं
भी प्रतिकूल परिस्थिति के कारण अन्धे, बहिरे आदि अ
व्यक्ति स्वाभाविक ही शिक्षण से वञ्चित रहते हैं
अनेक लोग ऐसे हैं कि प्रयत्न करने पर भी उनको
का लाभ नहीं हो पाता। बड़े शहर में प्रकाश का
योग विद्युत-प्रवाह के द्वारा सबके लिये सुलभ है फि
अन्धा मनुष्य उसका उपयोग नहीं कर सकता।

राष्ट्र की प्रजा पारस्परिक प्रेमभाव से रह कर सु

श्री सुरेश सिद्धवीर स्वामी बनहट्टीकर
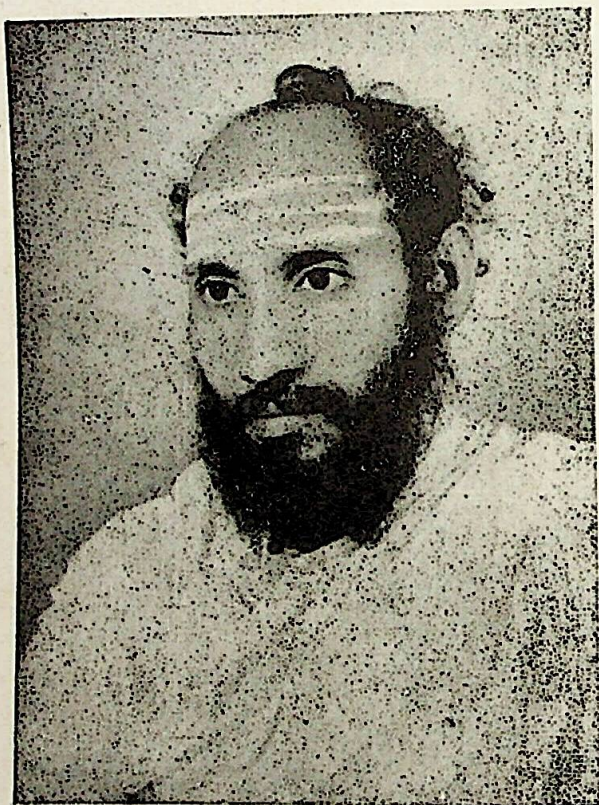
[लेखक]

शांति प्राप्त करने के लिये समर्थ बने ऐसा प्रयत्न सरकार के द्वारा पूर्ण सफल नहीं हो सकता ।

सब राष्ट्रों में सुख-शान्ति पूर्ण सुराज्य स्थापित करने के लिये मानवधर्म की ही आवश्यकता है ।

सारांश यह है कि धर्म सुख-शान्ति का उत्पादक है और राष्ट्र विभाजक है । जिस राष्ट्र की प्रजा में सुखोत्पादन करने वाले मानवधर्म की कमी होगी उस राष्ट्र में सुख-शान्ति की स्थापना करना असम्भव है क्योंकि विभाजन उत्पादन का परिणाम है । इसलिये राष्ट्र में सुख शान्ति का विभाजन करने के लिये मानव-धर्म द्वारा सुख-शान्ति का उत्पादन करना चाहिये ।

मनुष्य का मुख्य ध्येय सुख-शान्ति प्राप्त करना है और राष्ट्र का मुख्य ध्येय सुराज्य है। सुराज्य और सुख शान्ति के लिये सुख-शान्ति का विज्ञान आवश्यक है इसी लिये इस ग्रंथ का नाम "सुराज्य विज्ञान" रखा गया है।

राष्ट्र को धर्म-निरपेक्ष रहना चाहिये । यह राजनीति का हेतु है फिर भी परोक्ष रूप से सब राष्ट्र किसी न किसी मत पन्थ के ध्येय से बँधे हैं इसीलिये समदर्शित्व, समप्रेम, पारस्परिक बन्धुभाव और व्यापक मानवधर्म का अभाव होने से सारे राष्ट्र आज सुख-शान्ति से वञ्चित हैं इस ग्रंथ का उद्देश्य यही है कि मनुष्यों के मस्तिष्क में व्यापक मानवधर्म की कल्पना प्रकट हो ।

योग और वेदान्तादि शास्त्रकारों ने अपने ग्रंथ पढ़ने के लिये विशेष पात्रता की आवश्यकता प्रतिपादित की है परन्तु जिनको सुख--शान्ति की आवश्यकता है ऐसे सब मनुष्य इस ग्रंथ का स्वाध्याय करने के अधिकारी हैं। सारांश यह है कि संसार के सब मनुष्यों को सुख–शान्ति प्राप्त करने के लिये इस ग्रंथ को पढ़ना आवश्यक है। इस ग्रंथ को बनाते समय किसी भी प्राचीन शास्त्र का आधार नहीं लिया गया है। जिस प्रकार आधुनिक वैज्ञानिकों ने अपनी मननात्मक शक्ति को केन्द्रित करके अनेक वैज्ञानिक आविष्कार किये हैं, उसी प्रकार इस ग्रंथ के विषय मनोविज्ञान के आधार पर संशोधित करके लिखे गये हैं। जिस प्रकार आजतक किसी भी विज्ञान ने अपनी सीमा को प्राप्त नहीं किया उसी प्रकार इस धर्म विज्ञान की परिसीमा भी लेखक को प्राप्त नहीं हुई है। अगर पाठकों को इस विज्ञान में कुछ न्यूनता दृष्टिगत हो तो धर्म विज्ञान को सदोष न समझ कर उसे मेरे संशोधन की अपूर्णता ही समझना चाहिये। अब तक जितने संशोधन हुए हैं वे सब मन और बुद्धि से सम्बन्ध रखने वाले होने से सेन्द्रिय कहलाते हैं। धर्म विज्ञान का मुख्य ध्येय इन्द्रिय और मन के ऊपर निवास करने वाले आत्मा की पूर्णावस्था प्राप्त करना है। उस स्थान पर मन बुद्धि के व्यवहार कुण्ठित हो जाते हैं इसलिये धर्म को अती-

न्द्रिय विज्ञान कहते हैं। आजकल धर्म के नाम से अनेकवाद उत्पन्न होते हैं और एक धर्म दूसरे धर्म का खण्डन करने को उत्सुक रहता है। इस धर्म विज्ञान में किसी को कुछ न्यूनता नजर आय तो उसका खण्डन न कर अपनी दृष्टि से जो अपूर्णता मालूम हो उसे पूरा करने की सदिच्छा से पक्षपात छोड़ कर सर्वमान्य अनुभवसिद्ध सोपपत्तिक जानकारी भेजी जायगी तो अत्यन्त आदरपूर्वक दिव्यज्ञान की आगामी आवृति में समाविष्ट करा दी जायगी। इसलिये इस धर्म विज्ञान को पूर्ण करने का अधिकार सब विचारकों को है।

वस्तुस्थिति का विचार किया जाय तो इस ग्रंथ को लिखने की मुझमें योग्यता नहीं। माता--पिता और आचार्य आदि पूज्यवर्गों के कृपाप्रसाद से यह सुयोग बन गया है। मेरी मातुश्री पूज्य सौभाग्या गुरम्यावाई और पूज्य पिता श्री रेवणसिद्ध स्वामी वृहन्मठ गोरटा ज़िला बीदर है। पूज्य माताजी बालपन में ही मुझे छोड़ कर चल बसी इसलिये मुझे मातृसौख्य नहीं मिला। अनेक माताओं ने मेरा संरक्षण किया उनके उपकार मैं जन्मभर नहीं भूल सकता। पूज्य पिताजी अपने गाँव के पुरोहित थे और कुछ दिन खानगी शाला के शिक्षक भी रहे। मेरा प्राथमिक शिक्षण घर पर पिताजी के द्वारा ही हुआ। पूज्य पिताजी ने मेरा नैतिक आचरण सुधारने के लिये बचपन

से ही बहुत दक्षता रक्खी इसलिये मन पर दुर्व्यवहारों के संस्कार न जम सके क्योंकि वे प्रतिदिन दो बार ईश्वर की उपासना करते हैं उसमें मुझे भी सम्मिलित होने का अवसर आता था जिससे मुझे भी भक्ति के प्रति रस उत्पन्न हुआ। लगभग बारह वर्ष की उम्र में एक महान् तपस्वी महापुरुष धर्म-प्रचारार्थ आये उनको देख कर मुझे ऐसा मालूम हुआ कि वे युग-युग से मेरे हैं। मुझे इतना आनन्द हुआ कि उसे वर्णन करना असम्भव है। उनका नाम था पूज्य सिद्धवीर स्वामी वनहट्टीकर। उन्होंने ही मुझे मन्त्र का उपदेश देकर अखण्ड जप की आज्ञा दी। पहिलेपहल उनको मैं गुरूजी समझता था परन्तु १५ वर्ष की उम्र का होने पर श्रीजी ने मुझे आज्ञा की कि "तू मेरा शिष्य नहीं है; मैं तुझे शिष्य नहीं समझता, पुत्र समझता हूँ! संसार के प्रत्येक माता-पिता पुत्र से ऐसी आशा करते हैं कि वह उसकी परम्परा चलावे। तूने जो मुझसे मानव धर्म का विज्ञान सीखा है उसे अखण्ड रूप से विकसित करता रहे इसलिये तुझे उत्तराधिकारी समझता हूँ।" मैंनें उनकी आज्ञा शिरोधार्य की।

पूज्य पिता सिद्धवीर स्वामी का जन्म शालीमठ घराने में बेलगाँव जिले के वनहट्टी गाँव में हुआ। पूज्य स्वामी वनहट्टीकर को संस्कृत, मराठी, हिन्दी, कानड़ी, उर्दू और

अंग्रेजी इत्यादि अनेक भाषाएँ अवगत हैं। उनका मुख्य कार्य धर्म--प्रचार है इसलिये छोटे--मोटे अनेक गाँव में घूम कर प्रवचन रूप से आधुनिक वैज्ञानिक विद्वानों को मानव धर्म के तत्त्व-ज्ञान का उपदेश करते हैं। और शास्त्रीय रीति से अतीन्द्रिय विज्ञान रूप धर्म को सिद्ध करते हैं। पूज्य पिताजी ने प्रवास में मुझे साथ लिया था, सतत तीन साल उनके साथ रह कर धर्मविज्ञान की बहुत जानकारी प्राप्त की। उसके बाद एड्सी जिला (शोलापुर) के श्री रामलिङ्ग क्षेत्र में साधन करने के लिये मुझे रक्खा वहां पर सद्धर्म गुरुकुल की स्थापना की। उस गुरुकुल आश्रम में आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान सम्बन्धी शिक्षण लेने वाले अनेक साधक थे। पू० पिताजी आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान के प्रत्यक्ष अनुभवी हैं। अध्यात्म मार्ग में विशेष परिश्रम करके भी आत्म-तत्त्व की प्रतीति न होने पर जो जीवन के प्रति निराश होगये थे ऐसे अनेक मुमुक्षुओं को पूज्य पिताजी ने आत्म--साक्षात्कार का प्रत्यक्ष अनुभव कराया जिसे वेदान्त दृष्टि से दृष्टज्ञान और शिवाद्वैत दृष्टि से पिण्डज्ञान कहते हैं। गुरुकुल संस्था में प्रतिवर्ष श्रावण मास के पवित्र दिनों में आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान के प्रसार के लिये जप किया जाता है, उस समय महीने भर रह कर हजारों गृहस्थ पूजा और जप का शिक्षण लेते हैं। एक कोटि पर्यन्त नामस्मरण रूप

जपयज्ञ वहाँ हुआ है। वे लोग अपने नित्य व्यवहार में पूजा और जप रूप व्यावहारिक योग का उपयोग करते हैं इस आध्यात्मिक समारम्भ के योग से महाराष्ट्र में और कर्णाटक में गुरुकुल संस्था का खूब प्रचार हुआ। लगभग बारह वर्ष तक श्री रामलिङ्ग क्षेत्र में गुरुकुल का कार्यक्रम चला। अन्त में हैदराबाद स्टेट के स्वातन्त्र्य क्रान्ति के समय आश्रम के निज़ाम स्टेट के सरहद पर होने के कारण राजकीय आपत्तियाँ आने लगीं इस कारण आश्रम को वर्ष भर तक शोलापुर में रखना पड़ा। इस आश्रम से अनेक गृहस्थाश्रमियों को नैतिक और धार्मिक आचरण सम्बन्धी उत्तम विज्ञान प्राप्त हुआ।

पूज्य पिताजी धर्म के विषय में वैज्ञानिक मनन करने के लिये एकान्त में घण्टों बैठे रहते। उनके सब आचार विचार वैज्ञानिक पद्धति पर होने के कारण अन्धश्रद्धा को आपके हृदय में स्थान जमाने का सामर्थ्य नहीं रहा। इस ग्रंथ में धर्म-विज्ञान का भाग पूज्य पिताजी के द्वारा ही संशुद्ध किया गया है। पूज्य पिताजी का ज्ञान नैसर्गिक होने से उनके सारे विचार स्वभावसिद्ध हैं फिरभी उनके विचारों का विकास करने के लिये श्री जगदाचार्य रेणुक अगस्त्य संवाद रूप से "सिद्धान्त शिखामणि" नामक विशाल ग्रंथ के धर्माचार प्रकरण में से एक श्लोक का आधार मिल गया है :—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्य्यं दया क्षमा।
दानं पूजा जपो ध्यानमिति धर्मस्य संग्रहः ॥

अर्थात्—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य, दया, क्षमा, दान, पूजा, जप और ध्यान इन दस नियमों को धर्म का संग्रह समझना चाहिये ।

सिद्धान्त-शिखामणि नामक ग्रंथ १३३० श्लोकों में है पर हमारे विचार प्रवाह के अनुकूल यह एक ही श्लोक मालूम हुआ !

इस धर्म-विज्ञान में जो पारिभाषिक शब्द और प्रमेय नवीन पद्धति से बनाये गये हैं वे सब हमारी स्वतन्त्र विचार पद्धति को प्रकाशित करते हैं ।

उदाहरणार्थः—अहिंसादि दस नियम मानव मात्र में नैसर्गिक रूप से विद्यमान हैं । भूत, प्राण और भाव के प्रभेद ऊर्ध्व, अधो, नैसर्गिक और अनैसर्गिक तथा काल, कर्म और ज्ञान रूप मूल्य उसी प्रकार गणित साध्य द्रव्य अथवा अगणित साध्य द्रव्य आदि शब्द नये रूप से बनाये गये हैं । साधकों के पात्रापात्र का विवेक करके हमें आध्यात्मिक विज्ञान का शिक्षण देना चाहिये परन्तु आधिदैविक विज्ञान सम्बन्धी मुझे अधूरी जानकारी होने से पूज्य पिताजी के पूर्ण ज्ञान का मैं उत्तराधिकारी नहीं बन सका इसका दुःख है । धर्म-विज्ञान लिखते समय भी जब जब अड़चन मालूम होती है तब-तब पूज्य पिताजी का

स्मरण करते ही अपनेआप स्फूर्ति पैदा हो जाती है। मैं मानता हूँ कि धर्म–विज्ञान की पूर्णता हमें मालूम नहीं है फिरभी इस ग्रंथ से साधकों को विचारों की सामग्री प्राप्त होगी और इस अधूरे विज्ञान को पूरा करने की उन्हें प्रेरणा मिलेगी। यह पुस्तक लिखने में मुझे क़रीब दो वर्ष लग गये कभी–कभी ऐसा मालूम होता था कि इस दुःसाध्य काम में क्यों लगा जाय! फिर भी मेरे भाई श्री राचोटी स्वामीजी बृहन्मठ मेहकर (बीदर) ने इस ग्रंथ को लिखने के लिये सुव्यवस्था करने का बीड़ा उठा लिया। यहाँ पर मैं हिन्दी भाषा के सुपरिचित कवीश्वर परम पूज्य विद्वान् सद्गृहस्थ पं० सूरजचन्दजी सत्यप्रेमी का जितना आभार मानूँ उतना कम है जिन्होंने अपने अनेक अनिवार्य आवश्यक कार्य बाजू रख कर इस ग्रंथ के भाषान्तर को मूल पुस्तक से भी सुन्दर और सुव्यवस्थित बना दिया और ग्रंथ के प्रारम्भ में अपने परम मूल्यवान दो शब्द लिखने की कृपा की। अन्त में अनेक भावुक भक्तों ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में अर्थ व्यवस्था करने के लिये प्रयत्न किया उनका भी मैं आभार मान कर विराम लेता हूँ।

विश्व-शान्ति-प्रचारक-संस्था
मु० पो० डोणगोपुर ता० भालकी
जिला बीदर हैदराबाद स्टेट

सुरेश सिद्धवीर स्वामी
वनहट्टीकर

शाश्वत-धर्म-संरक्षक, मन्थन-महाशास्त्र-प्रणेता,
सम्पादक—"सङ्गम" वरधा

विश्वकवीश्वर ॐ श्री सूरजचन्द सत्यप्रेमी [डाँगीजी]
कुलपति—जैनाश्रम, वार्शी (शोलापुर)

(अग्रवचन-लेखक)

अग्र वचन

"विश्व शान्ति प्रचारक संस्था" के संस्थापक श्री सिद्ध-वीर स्वामी के सुपुत्र श्री सुरेश स्वामी इस ग्रंथ के लेखक हैं। उनका शाला सम्बन्धी शिक्षण नहीं के बराबर ही हुआ है, फिर भी उनके पिताजी की दया से जो हृदय में स्फूर्ति उत्पन्न हुई उसी को मराठी भाषा में लिपि-बद्ध कर दिया गया; इसलिए मूलग्रंथ को मैंने साहित्यिक दृष्टि से न देख कर अतीन्द्रिय तत्वों का वैज्ञानिक-विश्लेषण समझ हिन्दी भाषा में उसे रूपान्तरित कर दिया। उन्हीं की सम्मति से कहीं-कहीं मैंने विचारों में भी गहरा परि-वर्तन किया है। मेरे सुझावों का मर्म समझ कर सन्मान के साथ उन्हें स्वीकार करने का जो उन्होंने साहस दिखाया वह अनुकरणीय है।

पुराणों में यह प्रसिद्ध है कि श्री अगस्त्य ऋषि समुद्र को पी गये थे। इस आलंकारिक भाषा का अर्थ यह भी समझा जा सकता है कि जगदाचार्य रेणुक के हृदय में मानव धर्म के तत्व-ज्ञान का जो समुद्र लहरा

रहा था, उसे अगस्त्य ऋषि ने पान कर लिया, और फिर जगत् को उसका स्वाद चखाया। "सिद्धान्त-शिखामणि" ग्रन्थ उसी स्वाद का स्रोत है। उसी स्रोत का एक रसकण लेखक को एक श्लोक के रूप में मिला। अमृत का तो एक विन्दु भी अमर कर सकता है। इस ग्रंथ का एक श्लोक भी मानव धर्म का सार है, जो जीवन में परम स्वातन्त्र्य की उपलब्धि करा सकता है।

उक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए लेखक ने यह सिद्ध कर दिया है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेयादि दस नियम सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टि से किस प्रकार सुख-शान्ति वर्द्धक हैं ?

वाह्य दृष्टि से जो अनुकूल वेदना होती है उसे सुख कहते हैं और आभ्यन्तर दृष्टि से जो अनुकूल वेदना होती है, उसे शान्ति समझना चाहिये।

अगर राष्ट्र में सुखवृद्धि करना हो तो अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य्य का संरक्षण आवश्यक है, ये (चारों नियम) राष्ट्रीय–जीवन की चतुःसीमाएँ हैं। यदि ये सीमाएँ टूट गईं तो राष्ट्रीय जीवन नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, अतएव इन चारों नियमों की स्वाभाविकता को पहचान कर राष्ट्र की ओर से इनका शृङ्खलाबद्ध शिक्षण दिया जाना चाहिये, तभी इनके विरुद्ध आचरण करने वालों को दण्डित करके सुशासन स्थापित किया जा सकेगा

राज्य किसी का भी हो सुशासन के द्वारा ही उसे सुराज्य बनाया जा सकता है, अन्यथा शासन तो हम आज भी चला रहे हैं पर मानवता की चतुःसीमाओं को सुदृढ़ बनाये बिना राष्ट्र में सुख--वृद्धि नहीं हो सकती ।

अगर राष्ट्र में स्थायी शान्ति का सञ्चार करना हो, तो समाज में दया, क्षमा और दान इन तीनों नियमों का खूब प्रचार होना चाहिये ।

पूजा और जप के नियमों का पालन करने से व्यक्तिगत जीवन में सुख समृद्धि हो सकती है। लौकिक हो कि पारलौकिक किसी प्रकार का सेन्द्रिय सुख प्राप्त करना हो तो इस ग्रंथ में वर्णित पूजा और जप के विवेचन को जीवन में उतारने से पूरी-पूरी सफलता मिलती है।

ध्यान के नियम का पालन करने से अतीन्द्रिय सुख अर्थात आन्तरिक शान्ति किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है ! इस विषय का वर्णन ग्रंथ के अन्तिम भाग में सुन्दर पद्धति से किया गया है ।

इन धार्मिक नियमों का ज्ञान तो हम सदा से लेते आये हैं, परन्तु हमारी धारणा ऐसी बन गई है कि इन का विज्ञान के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है; परन्तु इस ग्रन्थ में यह प्रमाणित किया गया है कि धार्मिक नियमों के साथ विज्ञान का तादात्म्य सम्बन्ध है ।

भाव, प्राण और भूत—इन तीनों तत्वों का वर्णन इस ग्रन्थ में मौलिक पारिभाषिक शब्दों द्वारा किया गया है। ऊर्ध्व-भाव किस प्रकार सुख की वृद्धि करता है? अधोभाव किस प्रकार सुख का विभाजन करता है? अनैसर्गिक-भाव किस प्रकार दुःख की उत्पत्ति करता है? तथा नैसर्गिक-भाव किस प्रकार मानवता के योग्य पात्रता का निर्माण करता है?—इन सब विषयों के साधन काल, कर्म और ज्ञान के साथ अगणित साध्य और गणित-साध्य के सामान्य-विशेष उद्देश्यों का सम्बन्ध जोड़ कर इतने अच्छे प्रकार से समझाया गया है कि पाठकों में मानव-धर्म के प्रति सुदृढ़ रुचि उत्पन्न होजाती है।

साधारण लोगों की यह धारणा है कि 'धर्म' कष्ट सहे बिना नहीं किया जासकता; परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ का अध्ययन कर चुकने पर ऐसा निश्चय होजाता है कि 'धर्म' सर्वदा सुख रूप ही है।

हमारी ऐसी आदत पड़गई है कि सत्य और शिव रूप कहने से हम 'धर्म' को इतना जल्दी ग्रहण करने को तैयार नहीं होते जितना सुन्दर कहने पर। इसी मानव-प्रकृति को लक्ष्य में रख कर इस ग्रन्थ में धर्म-तत्वों की सुन्दर व्याख्या की गई है।

हमें आशा है कि राष्ट्रपुरुष, समाजपुरुष तथा व्यक्ति-गत जीवन को सफलता सम्पन्न बनाने वाले मनस्वी सज्जन

ग्रन्थ की निष्पक्षता से आकृष्ट होकर इसे अपने विशाल अन्तःकरण के किसी न किसी कोने में अवश्य स्थान देंगे, जिससे प्रेरित होकर सुशासन द्वारा सुराज्य-स्थापना में वे अपना कोई न कोई मूल्यवान भाग ले सकें।

सचमुच आज विज्ञान और धर्म दोनों अलग-अलग होगये हैं। विज्ञान जिन तत्वों का निर्णय करता है, धर्मनीति उन्हीं (तत्त्वों) को जीवन में उतारना सिखाती है। विज्ञान को हम उपार्जन करने वाला पिता मानें तो धर्म-नीति को व्यवस्था करने वाली माता मानना पड़ेगा। आज धर्मनीति के बिना विज्ञान हमें शैतान बनारहा है, और विज्ञान के विना धर्मनीति हमें हैवान बनारही है! ऐसी अवस्था में:—

"हैवानी शैतानी छूटे, बनें सभी इन्सान"

इस पद्यांश में निहित उद्देश्य की पूर्त्ति के निमित्त हमें निष्पक्षतापूर्वक मानवता के सामान्य-तत्वों को वैज्ञानिक कसौटी पर कसकर उन्हें अपने जीवन में ओतप्रोत कर देना होगा! तभी हम सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टि से अधिकतम प्राणियों के अधिकतम सुख को बढ़ाकर जगत में सर्वतोमुखी प्रगति और स्थायी शान्ति पैदा करने में साफल्य प्राप्त कर सकेंगे।

मैं चाहता हूँ कि विशुद्ध और व्यापक मानवता की दृष्टि रख कर ऐसे ग्रन्थ अधिक से अधिक तैयार किये

जायँ और उनका सभी श्रेणि के पाठक-पाठिकाओं में सदैव आदर होता रहे । ❀

अन्त में मैं इस ग्रन्थ के मूल-लेखक को धन्यवाद देता हूँ कि जिन्होंने मुझे अपने निर्मल प्रेम से यह ग्रन्थ हिन्दी भाषा में अनूदित करने तथा यह 'अग्र-वचन' लिखने को बाध्य कर दिया ।

दीपावलि
२४७७

—डाँगी सूरजचन्द सत्यप्रेमी
संरक्षक:—"शाश्वतधर्म"
बारसी (शोलापुर)

❀ इन पंक्तियों के पाठक-पाठिकाओं से यहाँ मैं एक अत्यन्त आवश्यक सूचना कर देना भी समुचित समझ रहा हूँ कि 'सत्याश्रम'—वर्धा (मध्य-प्रान्त) से प्रकाशित "सत्यभक्त-साहित्य" [सत्येश्वर के सन्देश-वाहक सुकवि सुलेखक सद्धर्मप्रवर्त्तक समाज-सुधारक विश्ववन्द्य महात्मा "स्वामी-सत्यभक्त जी" की अविरल प्रगतिशील लेखनी द्वारा प्रसूत— दार्शनिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रों में नित्य नई-नई उठने वाली जटिल से जटिल समस्याओं का सरल से सरल भाषा में युगानुकूल मौलिक समाधान प्रस्तुत करने वाले आधुनिक प्रचलित मनोवैज्ञानिक पद्धति से विरचित ग्रन्थरत्न, जिनकी संख्या पचास से भी ऊपर है] का एकबार अवश्य मनन-पूर्वक अध्ययन कर के एक मानव-समाज, एक मानवभाषा तथा एक मानवीलिपि के साथ ही मानवीय-शासन-पद्धति से परिचालित कियेजाने वाले एक "अखण्ड-मानवराष्ट्र" की रचना के अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य में अपने तन-मन-धन-सहित हम सभी शीघ्रातिशीघ्र जुट जायँ ! —सूरजचन्द

श्रीजगदाचार्य रेणुक अगस्त्य मुनींको मानवधर्मका उपदेश कर रहे
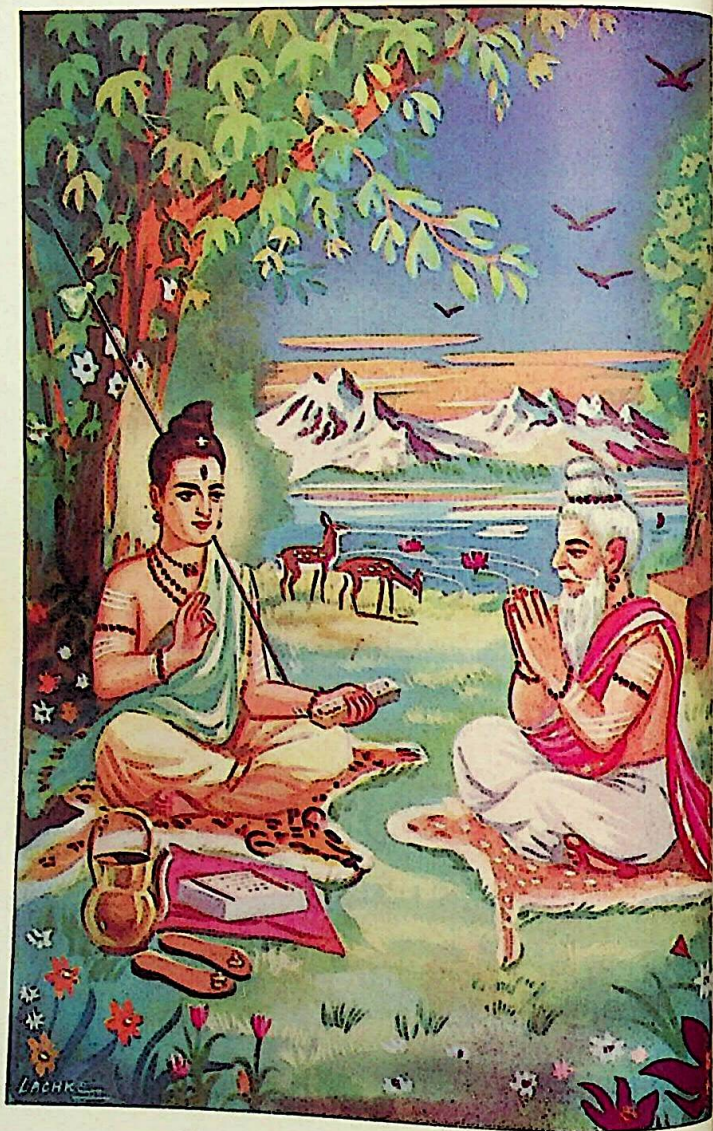
अहिंसा सत्यमस्तेयम् ब्रह्मचर्यम् दया क्षमा ।
दानम् पूजा जपो ध्यानमिति धर्मस्य संग्रहः ॥

ॐ

सुराज्य विज्ञान

सुराज्य

यह विश्व जड़ और चेतन इन दो अवस्थाओं से युक्त है। इसमें विविधता होने पर भी नियमबद्धता दिखाई देती है। संसार की प्रत्येक घटना में विशेषकर के एक ही नियम का सबको अनुभव होता रहता है।

पृथ्वी पर बीज पड़ा, उसका अङ्कुर फूट कर वृक्ष हुआ। और फिर फूल आकर उसमें फल लगे।

नीम के बीज से कभी आम उत्पन्न नहीं हो सकता। गेहूँ बोकर कोई ज्वार प्राप्त नहीं कर सकता। अमुक बीज से अमुक झाड़ ही उत्पन्न होगा। ये सब बनस्पति-शास्त्र के नियम सम्पूर्ण बनस्पतियों पर सदैव शासन करते रहते हैं।

विशेष चेतनावान प्राणियों में भी एक नियम है। लड़का उत्पन्न हुआ, फिर बचपन प्राप्त किया, उसके बाद तारुण्य फिर वृद्धावस्था पाकर मृत्यु निश्चित है। ऐसा

कभी नहीं होता कि वृद्धावस्था के बाद बालकपन और जवानी प्राप्त हो ।

इसी प्रकार भूगोल सम्बन्धी भी निश्चित नियम है। पर्वत कैसे उत्पन्न होते हैं, पर्वतों से नदियाँ कैसे निकलती हैं, वे एक विशिष्ट दिशा की ओर ही क्यों बहती हैं? इन सब विषयों में सब जगह नियमबद्धता ही मालूम होती है।

सूर्य चन्द्र और नक्षत्रादिक सब गोल एक विशिष्ट नियम के अनुसार ही आकाश में भ्रमण करते हैं ।

सारांश यह है कि अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अतिहिम, अहिम, अतिग्रीष्म, अग्रीष्म हम नहीं चाहते परन्तु यह भी उपयोगी और नियमबद्ध ही होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि पृथ्वी आदि पञ्चतत्व, सूर्य चन्द्रादि गोल, वर्षादि काल और नदी सागर आदि जलाशयों में ज्ञानशक्ति प्रकट न होने पर भी जो इनमें नियमबद्धता देखी जाती है । इस पर से यह सिद्ध होता है कि सब वस्तुओं के अन्दर एक महान् शक्तिशाली नियामक वस्तु का अस्तित्व है ।

सृष्टि में मानव-प्राणी विवेकपूर्ण चैतन्यशील होने से अपनी ज्ञानशक्ति के प्रभाव से अधिकाधिक ज्ञान-संशोधन करके स्वपर कल्याण करने में समर्थ है इसलिये कोई समझ ले कि वह पूर्ण स्वतन्त्र है यह भूल है । मनुष्य अपने ज्ञानबल से सब तरह की उन्नति करने में स्वतन्त्र अवश्य है परन्तु जब वह मानवता की चतुःसीमा उल्लङ्घन करने लगता है

तब उस पर भी अन्तःस्थ नियामक शक्ति का अवश्य परि-णाम होता है ।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य्य मानवता की यही चारों सीमायें हैं । हमें कोई मारे नहीं, हमसे कोई झूठ बोले नहीं, हमारी वस्तु कोई चुरा न ले, हमसे कोई कुशील सेवन न करे इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपने सम्बन्ध में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, और ब्रह्मचर्य्य की सीमाएँ निश्चित करना चाहता है । इस पर से यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक मनुष्य की सुखशान्ति के लिये इन चारों सीमाओं को सुरक्षित रखना ज़रूरी है ।

इसके विरुद्ध अपनों या दूसरों के प्रति असत्य, हिंसा, स्तेय और अब्रह्मचर्य्य का व्यवहार करने से दुःख का अनु-भव होता है । इस पर से यह प्रमाणित होता है कि असत्य, हिंसा, स्तेय और अब्रह्मचर्य्य मानवता की सीमा को तोड़ते हैं । इसीलिये इसे मानवता नहीं समझना चाहिये ।

विश्व के प्रत्येक मनुष्य को अपने से भिन्न प्राणियों के विषय में जब-जब अपराध करने की प्रवृत्ति होती है तब तब शुद्ध अन्तःकरण से एक सन्देश आता है कि "यह काम मत करो ।" इस पर से यह सिद्ध होता है कि हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील सेवन न करने का सन्देश देने वाली एक नियामक शक्ति सदैव जागृत रहती है ।

इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य को अपने से भिन्न प्राणियों के विषय मे अपराध की प्रवृत्ति होते समय जो अन्तःस्थ नियामक शक्ति की तरफ से वैसा न करने का सन्देश आता है तो भी वह लोभवश उस अन्तर्नाद को न मान कर किसी व्यक्ति या वस्तु के विषय में प्रत्यक्ष अपराध करता है। प्रत्येक व्यक्ति या वस्तु, महान् राष्ट्र का एक अंशीभूत घटक होने से उसे राष्ट्र-शक्ति अपराध न करने के लिये नियन्त्रण करती है। इस पर से यह सिद्ध होता है कि राष्ट्र इस संसार में एक नियामक शक्ति का प्रतीक है।

मनुष्य के अन्दर जो अन्तःस्थ नियामक शक्ति है उसकी आज्ञा उल्लङ्घन करने वालों को ही राष्ट्र-शक्ति नियन्त्रित करती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य्य इन चारों सीमाओं का उल्लङ्घन करना मनुष्य की अन्तःस्थ नियामकशक्ति को अमान्य है उसीप्रकार राष्ट्र को भी अमान्य है। इस पर से यह सिद्ध होता है कि सृष्टि के अन्तःस्थल में अति सूक्ष्म रूप से जो व्यापक समष्टि रूप नियामक शक्ति है उसीका राष्ट्र भी अनुकरण करता है। इसलिये ऐसा कहने में कोई बाधा नहीं कि इस जड़ता एवम् चैतन्ययुक्त सम्पूर्ण विश्व की नियामक शक्ति का मुख्य प्रतिनिधि ही राष्ट्र कहलाता है।

इङ्गलैण्ड, अमेरिका, चीन और रूस आदि मनुष्य के बनाये हुए अनेक राष्ट्र होने पर भी उनकी राज्य व्यवस्था एक ही प्रकार की मानना चाहिये। राष्ट्र की भौगोलिक

चतुःसीमा कुछभी रहे, उसकी राज्यनीति की चतुःसीमाएँ केवल अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य्य ही रहना चाहिये और इन सीमाओं का जो उल्लङ्घन करे उसे राष्ट्र-बाह्य समझना चाहिये। राष्ट्र-शक्ति के कार्यवाहक अहर्निश यही प्रयत्न करते हैं कि कोई हिंसा करे नहीं, झूठ बोले नहीं, चोरी करे नहीं और कुशील भी सेवन न करे! इस पर से यह सिद्ध होता है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य्य राष्ट्र के लिये मान्य हैं।

प्रत्येक मनुष्य को सुख-शान्ति प्राप्त हो इसीलिये राष्ट्र है। अतः राष्ट्र में अखण्ड सुख-शान्ति स्थापित करने के लिये प्रजा की मनोवृत्ति मानवता की ओर झुकी हुई होना चाहिये।

मानवता की सीमा के भीतर रहकर जीवनक्रम चलाने वालों का संरक्षण करने के लिये और राष्ट्र बाह्य अर्थात् मानवता-विरुद्ध आचरण करके राष्ट्र की शक्ति भङ्ग करने वालों को नियन्त्रित करने के लिये राष्ट्र-धर्म है। अपराधियों को दण्ड देना यह राष्ट्र का अधिकार है। परन्तु अपराध करने के पहले जिस कारण अपराध होता है उन कारणों को ढूंढ कर उन्हें दूर करना और अहिंसा सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य्य का शिक्षण प्रजा को देना यह राष्ट्र का अत्यन्त आवश्यक कर्त्तव्य है।

दुःख है कि इस महत्वपूर्ण कर्त्तव्य का अनुभव वर्तमान काल में किसी राष्ट्र को नहीं है । जो शक्ति नियामक होती है वह न्यायी भी होना चाहिये । राष्ट्र यदि अपराधियों का नियन्त्रण करता है तो उनसे अपराध न हो सके ऐसी परिस्थिति निर्माण करना भी उसीका धर्म है ।

मानलो किसी व्यक्ति ने हिंसा की, उसे राजदण्ड मिला पर हिंसा करने के पहिले राष्ट्र ने उसे अहिंसा का शिक्षण कितना दिया ! मानलो किसी व्यक्ति ने असत्य भाषण किया और उसे राजदण्ड भी मिला; पर असत्य भाषण करने के पहले उसे सत्य का शिक्षण कितना मिला ! मान लो किसी व्यक्ति ने चोरी की उसे राजदण्ड मिला तथापि चोरी करने के पहले उसे अस्तेय का कितना शिक्षण मिला ! उसी प्रकार व्यभिचार के लिये भी हम किसी व्यक्ति को दण्ड तो देते हैं पर व्यभिचार करने के पहले उसे ब्रह्मचर्य्य का शिक्षण कितना मिला था ! इसका ध्यान किसीको है क्या ?

सारांश यह है कि अपराध का दण्ड देने के साथ-साथ अपराध न होने का शिक्षण सब राष्ट्रों को देना चाहिये । अपराधियों को दण्ड देना सामान्यतः राष्ट्र-धर्म होने पर भी शिक्षण मिलने पर भी किसी व्यक्ति की ओर से अपराध होगया तो उसके लिये दण्डित करना सुशासन है ।

हिंसा, असत्य, स्तेय और अब्रह्मचर्य का वर्तन करने वालों को राज्यदण्ड द्वारा शासित किया जायगा— यह राष्ट्र का नियम है। और अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य्य के विरुद्ध अपने साथ कोई व्यवहार न किया जाय ऐसी चाह नैसर्गिक रूप से सबको होती है। इस नैसर्गिक चाह का उपयोग सब प्राणियों के लिये करना सबका कर्त्तव्य है। यदि निसर्ग शक्ति के द्वारा मनुष्यों में यह चाह जागृत न होती तो प्रजा को इसके शिक्षण देने का दायित्व राष्ट्र पर अवश्य पड़ता इसलिये "राष्ट्र-बाह्य वर्तन करने वालों को प्रथम शिक्षण न देकर भी उन्हें दण्डित किया जाय तो इसमें अन्याय नहीं है।" यदि ऐसा शासन संस्था के द्वारा मान लिया जाय तो यह ठीक नहीं होगा क्यों कि :—

"हिंसा, असत्य, स्तेय, और अब्रह्मचर्य से वर्तन करने वालों को राजदंड द्वारा शासित किया जायगा" यह राष्ट्र का नियम अवश्य है फिरभी ये दोष अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य्य के विपरीत परिणाम हैं और ये राष्ट्र एवम् मानवता के विरोधी हैं इसलिये हिंसा, असत्य, स्तेय और अब्रह्मचर्य यह मुख्य नियम नहीं हो सकते।

हिंसा मूल नियम नहीं है। अहिंसा ही मूल नियम है। असत्य मूल नियम नहीं है। सत्य ही मूल

नियम है। स्तेय मूल नियम नहीं है। अस्तेय ही मूल नियम है। अब्रह्मचर्य्य मूल नियम नहीं ब्रह्मचर्य्य ही मूल नियम है।

इन मूल नियमों की विपरीत अवस्था को ही राष्ट्रीय नियम मानने से ऊपर बताये हुए मूल नियमों के पालन रूप कर्त्तव्य का बोध नहीं होता।

"हिंसा करने वालों को दंड दिया जायगा" यह राष्ट्रीय नियम है परन्तु राष्ट्र का यह नियम नहीं होना चाहिये; क्यों कि मूल नियम अहिंसा होने से अहिंसा पालन न करने वालों को दंडित करना चाहिये। इसी प्रकार असत्य, स्तेय और अब्रह्मचर्य्य मूल नियम न होने से सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य्य को मूल नियम मान कर इनका आचरण न करने वालों को दंडित किया जाना चाहिये।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य्य मनुष्य मात्र के स्वाभाविक अखंड नियम हैं इन स्वाभाविक मूल नियमों से मनुष्य विमुख होकर हिंसा, असत्य, चोरी और कुशील में प्रवेश करके अपने पद से भ्रष्ट होता है। इसलिये अस्वाभाविक और पदभ्रष्ट करने वाले इन अपराधों का व्यवहार दंडनीय है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य्य मनुष्यों में अपने लिये ही नैसर्गिक हैं परंतु उनका उपयोग दूसरों के लिए

तभी हो सकता है जब नैसर्गिक ज्ञान को विकसित करना अपना कर्त्तव्य समझ कर राष्ट्र संसार के सभी प्राणियों के विषय में उनका उपयोग करने की पात्रता पैदा करे। इस लिये मानवता के शिक्षण की आवश्यकता है। मनुष्य ज्ञान सृष्टि का प्राणी है इसलिये उसमें ज्ञान के द्वारा अपने जीवन का अधिक से अधिक विकास करने का सामर्थ्य है। जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तु अथवा अवस्था प्राप्त करने की ज्ञान-शक्ति मनुष्य के पास होने से वह नैसर्गिक स्वाभाविकता पर अवलम्बित न होकर अपनी कर्तृत्व-शक्ति पर जीवित है।

शरीर-संरक्षण के लिये अन्न, पानी और वस्त्र की अनिवार्य आवश्यकता स्वाभाविक ही है।

संसार में पहिले से ही खाने योग्य धान्य प्रकृति ने निर्माण किया है। मनुष्यों ने भी अपनी ज्ञान-शक्ति का उपयोग करके कृषि विज्ञान के आविष्कार द्वारा अधिक धान्य उत्पन्न करने का क्रम शुरू किया और पीसना, पोना, राँधना, सिझोना आदि क्रियाओं में पाक-विज्ञान का उपयोग किया। इसी प्रकार कपास का भी मूल स्वाभाविक अवस्था में उपयोग न करके उसके तन्तु निकाल कर वस्त्र-निर्माण कला का आविष्कार किया। इसी प्रकार जल के भी स्वाभाविक रूप को विकसित करके कुँए, बावड़ी, तालाब आदि जलाशय निर्माण किये। इसी प्रकार सोना, चाँदी, पीतल

इत्यादि धातुओं का निसर्गतः उपयोग नहीं हो सकता था इसलिये नानाप्रकार के आभूषण वर्तन आदि बनाये।

सारांश यह है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इनका उपयोग स्वाभाविक अवस्था में नहीं हो सकता, ऐसा समझ कर अपनी ज्ञान-शक्ति के द्वारा ट्रेन, टेलीफोन, टेलिग्रास, रेडियो, वायुयान, और अणु-परमाणु आदि का आविष्कार करके नानाप्रकार की उपभोग्य वस्तुएँ तय्यार कीं। इस पर से यह सिद्ध होता है कि अन्न, जल, वस्त्र की भोगोपभोग की सामग्रियाँ नैसर्गिक वस्तु होने पर भी अपनी ज्ञान-शक्ति और कर्तृत्व-शक्ति के आधार पर इनका विशेष रूप से उपयोग किया जा सकता है।

मनुष्यों को माँ-बाप, पुत्र-पुत्री, पति-पत्नी आदि सम्बंधों से प्रेम-भावना का स्वाभाविक अनुभव होता है। परन्तु उस स्वाभाविक प्रेम का विकास करने के लिये भी कुछ विशिष्ट क्रम है। स्त्री-पुरुष मे पति-पत्नी भाव का प्रेम अर्थात् प्रणय स्वाभाविक है फिर भी उसके विकास के लिये विवाह-विधि की आवश्यकता है। प्रत्येक स्त्री-पुरुष में सन्तान-वात्सल्य स्वाभाविक है फिर भी उस वात्सल्य के विकास के लिये अपनी सन्तति-निर्माण करने की आवश्यकता है। मनुष्य प्राणी एक माता के उदर से पैदा हुआ उसमें भाई बहिन तथा भाई-भाई के प्रेम का स्वाभाविक विकास होता है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य्य ये मनुष्यों में स्वाभाविक रहते ही हैं फिर भी इनका विकास करके मानवता प्राप्त करने का भी व्यवस्थित क्रम आवश्यक है। अनेक मनुष्यों की सामुदायिक विज्ञान-शक्ति जब कर्तृत्व-शक्ति का रूप धारण करती है तब उसे ही हम "राष्ट्र" कहते हैं। इस प्रकार राष्ट्र की नियामक-शक्ति स्वाभाविक होने पर भी क्रम से विकसित करने योग्य है।

क्रमिक विकास करने के लिये शिक्षण की अनिवार्य आवश्यकता है। हिंसा, असत्य, चोरी और कुशील सेवन नियमानुसार दण्डनीय हैं फिर भी इनका व्यवहार क्रम से ही बन्द किया जा सकता है; और अहिंसा, सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य्य का व्यवहार शृङ्खलाबद्ध विज्ञान से ही विकसित किया जा सकता है।

"अधिक धान्य उपजाओ" यह राष्ट्र का एक नियम है परन्तु इस नियम की सिद्धि के लिए कृषि-विज्ञान शास्त्र का शिक्षण और उसको लगने वाली आवश्यक सामग्री राष्ट्र की ओर से जनता को मिलनी चाहिये; यदि ऐसा न किया जाय तो इसमें राष्ट्र का भी दोष है। लड़के लड़कियों को प्राथमिक शिक्षण न देने वाले पालकों के लिये दण्ड का नियम बना है परन्तु इसकी सिद्धि के लिए यदि गाँव-गाँव पाठशाला की व्यवस्था न हुई तो शिक्षण के अभाव में पालकों को दोष कैसे दिया जा सकता है! यह दोष तो

राष्ट्र का है न ! इसी प्रकार "हिंसा, झूठ, चोरी औ
कुशील का वर्तन करने वाले मनुष्यों को कड़ा दण्ड मिलेगा"
ऐसा नियम है और इस नियम की सिद्धि के लिये अहिंसा,
सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य्य का शिक्षण राष्ट्र की ओर से
जरूर मिलना चाहिये उसके बिना न्यायी राष्ट्र के निय
पूर्णांश में सफल नहीं हो सकते ।

विद्यार्थियों को प्राथमिक पाठशाला में:— हिंसा मत करो
झूठ मत बोलो, चोरी मत करो और कुशील सेवन से दू
रहो; ऐसा उपदेश दिया जाता है पर इसे शिक्षण समझना
भूल है । इसकी अपेक्षा अमुक-अमुक महान् व्यक्ति
अहिंसा का पालन करता था और पर-स्त्री को माता
समान मानता था ऐसे भूतकाल के व्यक्ति का चरित्र कह
कर उनको शाब्दिक शिक्षण देना भी पर्याप्त नहीं । स
शिक्षण के लिये शिक्षण का एक विशिष्ट क्रम निश्चि
करना होगा ।

जिस प्रकार कृषि-विज्ञान-शास्त्र शरीर-पोषण के लिये जरू
होने से संसार का प्रत्येक मनुष्य उसको मान्यता देता है
उसी प्रकार मानवता के विज्ञान द्वारा राष्ट्र का संरक्ष
होने से अहिंसादिक मानवता के मुख्य नियमों का वैज्ञानि
विश्लेषण करके सर्वमान्य होने लायक सक्रम शिक्षण-प्रणाल
की आवश्यकता है । इस प्रणाली का आविष्कार कर
विद्यार्थियों को तदनुसार शिक्षण देने का दायित्व राष्ट्र पर आता है

अगर ऐसा मान लिया कि राष्ट्र का कर्त्तव्य तो केवल अपराधियों को दण्ड देना ही है, मानवता का शिक्षण देना नहीं; तो यह निश्चित समझना चाहिये कि दण्ड के डर से अपराधों की कमी होने वाली नहीं है! प्रत्युत धीरे-धीरे अपराधों को छुपाने की ही वृत्ति उत्पन्न होगी; क्योंकि मनुष्य सिर्फ उसी अपराध से बचेगा जो लोगों की दृष्टि में आ सके। छिप कर होने वाले अपराधों की परवाह किसी को न रहेगी।

मान लो किसी एक पुरुष ने सामाजिक नियम के विरुद्ध अब्रह्मचर्य्य सेवन किया! यदि उसकी खबर शासन के अधिकारियों के पास नहीं पहुँची तो क्या वह अपराध, अपराध न रहेगा? और उसका दुष्फल राष्ट्र को न मिलेगा? अवश्य मिलेगा। अपराध तो अपराध ही है। जिस प्रकार अँधेरे में विष खाने पर भी उसका फल मृत्यु अवश्यम्भावी है उसी प्रकार छुप कर किया हुआ अपराध भी राष्ट्र के लिये घातक ही सिद्ध होगा! इसलिये राष्ट्र का कर्त्तव्य है कि मानवता के शिक्षण द्वारा अपराध करने की मूल प्रवृत्ति को ही नष्ट करने का प्रयत्न करे और उसके लिये एक शृङ्खलाबद्ध शिक्षण-क्रम का शीघ्र ही श्री गणेश किया जाय।

आज राष्ट्र में प्रत्येक व्यवहार हिंसा, असत्य, चोरी और अब्रह्मचर्य्य से भरा हुआ दृष्टिगोचर होता है। किसान

और मजदूर लोग अधिकांश में श्रमचौर्य, पदार्थचौर्य औ
कालचौर्य करने वाले हैं और पूंजीपति लोग श्रमिकों
योग्य मजदूरी नहीं देते । राज्याधिकारी लोभ लालच
पड़ कर न्याय को अन्याय और अन्याय को न्याय बन
लेते हैं । ऐसे अपराध राज्य की नजर में नहीं आ पा
पर इनका फल आज भयङ्कर रूप से हमारे सामने आ
रहा है ।

जिन अपराधों का दण्ड राष्ट्र नहीं दे सकता वे गुप्
अपराध निरर्थक नहीं होते उनका दण्ड भी निसर्ग नियम
के अनुसार मिलता ही है ।

लोक-व्यवहार में सौम्य और उग्र दो प्रकार के अपरा
होते हैं । सौम्य अपराधों का दण्ड रोगादिक शारीरि
पीड़ाओं से हमें मिल ही जाता है; औषधि से उन रोग
को ठीक भी किया जा सकता है ।

आहार विहार पवित्र न होने से अथवा सांसारिक दो
से रोग होते हैं इसलिये इसमें गुप्त अपराधों को कार
मानना योग्य नहीं; यदि ऐसा कहा जाय तो हम पूछते
कि आहार विहार पवित्र और नियमित रख कर भी को
कोई लोग रोग से पीड़ित क्यों होते हैं और कोई-को
मनमाने खान-पान करने से भी निरोग क्यों रहते हैं
यदि इसकी कारण परम्परा व्यवस्थित न मानी जाय

सृष्टि के नियमों को अन्धाघुन्ध समझना पड़ेगा । परन्तु सृष्टि अन्धाघुन्ध नहीं चलती उसके अन्तःस्थल में एक गूढ़ और व्यापक नियामक शक्ति होने से जिन अपराधों का दंड राष्ट्र नहीं दे सकता उन अपराधों का दण्ड रोगादिक शारीरिक पीड़ाओं के द्वारा निसर्ग शक्ति अवश्य देती है ।

मातृ--हत्या, पितृ--हत्या, गुरु--हत्या, बाल--हत्या, गौ-हत्या स्त्री-हत्या और राष्ट्र सम्बन्धी विश्वासघात आदि अनेक उग्र अपराध करके भी जो राज-दण्ड की चपेट में नहीं आते ऐसे सहकर्मी जीव जब संसार में बहुत निर्मित होते हैं तो उनके लिये अति-वृष्टि, अवृष्टि, अति-हिम, अहिम, अति-ग्रीष्म, अग्रीष्म, झंझावात और भूकम्प आदि नाना प्रकार के उग्र-दण्ड निसर्ग द्वारा मिलते हैं ।

इस पर से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य और निसर्ग का पारस्परिक अविच्छेद्य सम्बन्ध है इसलिये जिस प्रकार हमने पञ्चमहाभूतों का अपनी ज्ञान-शक्ति द्वारा उपयोग करके ट्रेन, वायुयान, टेलिग्राम, टेलिफोन और रेडियो आदि का आविष्कार किया है उसी प्रकार मानवता के व्यवस्थित शिक्षण-क्रम का भी तुरन्त आविष्कार करना चाहिये जिससे कि भौतिक विज्ञान-शास्त्र का सदुपयोग करके हम संसार के लिये सुख-शान्ति का मार्ग--दर्शन कर सकें ।

इस भारतभूमि में भिन्न-भिन्न तत्वज्ञानी लोगों ने जड़ विज्ञान की सहायता से देश को सुख-सम्पन्न बनाने का

प्रयत्न चालू किया है परन्तु इस मार्ग से सुराज्य और शान्ति नहीं मिल सकती। सुराज्य और शान्ति की स्थापना के लिये मानवता के विज्ञान को सिखाने की आवश्यकता है। मनुष्य का शिरोभाग ज्ञान-शक्ति का विशेष केन्द्र होने से उसे उत्तमाङ्ग माना जाता है। मस्तक में मनन शक्ति अधिक है इसलिए सिर को चैतन्य का विशेष निवास स्थान मानना चाहिये। हस्त पादादि अवयवों में ज्ञान-शक्ति का न्यूनांश होने से वे मस्तक की अपेक्षा जड़ हैं। अन्य अवयव बलवान होने पर भी उनमें संरक्षण करने की योग्यता नहीं इस तरह संसार को एक विराट पुरुष माना जाय तो हिमालय पर्वत के कारण भारतवर्ष को उसका उत्तमाङ्ग मानना पड़ेगा। हमारे यहाँ सत्य अहिंसात्मक ऊर्ध्व भावना होने से हिंसात्मक युद्ध छोड़ने योग्य माना गया है। इस पर से यह सिद्ध होता है कि भारतवर्ष संसार का ज्ञान भाग है इसलिये हमारा यह कर्त्तव्य है कि मानवता को उज्ज्वल करने की शिक्षा-प्रणाली का व्यवहार करके अखिल विश्व में सुराज्य और सुख-शान्ति का साम्राज्य स्थापित करें। आधुनिक तत्वज्ञ लोगों की कल्पना में सुराज्य का अर्थ भोगोपभोग सामग्री से सुसम्पन्न रहना है और अपना देश दूसरे देशों से पराजित न हो ऐसी पात्रता निर्माण करना है। अधिक से अधिक अन्न-वस्त्र व भोग्य पदार्थ निर्माण करके अपने देश के छोटे-मोटे प्रत्येक गाँव

की सुव्यवस्था करना ही सुराज्य का काम माना जाता है परंतु ज्यों--ज्यों भोग--पदार्थों का विशेष उपयोग होता है त्यों-त्यों भोग--लालसा ज्यादा बढ़ती है और उन्हें प्राप्त करने के लिए मन अधिकाधिक परतन्त्र होता है उसी समय अमानवीय व्यवहार किया जाता है और राष्ट्र की शान्ति का भङ्ग होता है। शरीर संरक्षण के लिये अत्यन्त आवश्यक अन्न, जल और वस्त्र अधिकाधिक निर्माण करने के लिए बड़ी-बड़ी योजनाएँ करना प्रशंसनीय है। अना-वृष्टि के प्रसंग में ये साधन उपयोगी बन जाते हैं परन्तु अति-वृष्टि, भूकम्प और झंझावात की आपत्ति जब राष्ट्र पर आती है तब हम कितनी भी सुव्यवस्था करें तो भी शान्ति रखना कठिन पड़ जाता है। लिखने का तात्पर्य्य यह है कि मानवता में ही देश का संरक्षण है। जड़-वाद से बुद्धि जड़ बनती है स्वार्थ और लोभ बढ़कर अधिकाधिक भोग प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है और अगर इच्छित भोग न मिला तो अमानवीय व्यवहारों के द्वारा शान्ति भङ्ग की जाती है; क्यों कि शासक लोगों में भी मानवता की गंध नहीं रहती इसीलिये तो वे अपने अधिकार--मद द्वारा शस्त्र-सामर्थ्य के बल पर अन्य राष्ट्रों को पद-दलित करते हैं। और इस तरह अशान्ति फैलाते हैं। फिर उनसे लड़ने वाला भी कोई न कोई मिल ही जाता है; इस प्रकार पारस्परिक संहार के कारण सब राष्ट्रों

का नाश हो जाता है और दुःख की परम्परा स्थायी बन जाती है इसलिये प्रत्येक स्त्री-पुरुष को अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य्य का व्यावहारिक शिक्षण दिये बिना सुखशान्ति की सच्ची नींव नहीं डाली जा सकती। जिस प्रकार आज प्राचीन काल के ऋषि-मुनियों के द्वारा आविष्कृत कृषि-विज्ञान-शास्त्र सब मनुष्यों को अन्न-वस्त्र की पूर्ति करने में असमर्थ है इसलिये खेती के विज्ञान में नये-नये आविष्कार करके अन्न-वस्त्रादि की कमी पूरी की जा रही है उसी प्रकार अब मानवता का भी विकास करके सम्पूर्ण विश्व के साथ सम्बन्ध जोड़े विना या मानव-मात्र का एक राष्ट्र बनाये विना स्थायी सुख-शान्ति स्थापित नहीं हो सकती।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य्य के पालन करने में पात्रता आने के लिये दया, क्षमा, दान, पूजा, जप और ध्यान, इनके पालन करने की पहिले आवश्यकता है। अहिंसादिक चार नियमों के लिये केवल संयम की आवश्यकता है पर दया क्षमादिक पालन करने के लिये काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग भी आवश्यक है।

उपर्युक्त अहिंसादिक चार नियमों के पालन करने से हम मानवता प्राप्त करके राष्ट्र में शान्ति स्थापित करते हैं तो फिर दया, क्षमा आदिक छः नियमों के पालन की आवश्यकता ही क्या? ऐसी शङ्का उपस्थित की जा सकती

है उसका समाधान यह है कि मानवता मनुष्य का अन्तिम ध्येय नहीं है। अहिंसादिक चार नियम मनुष्य को मानवता से नीचे न गिरा कर उन्नत अवस्था में पहुँचाने योग्य पात्रता निर्माण करते हैं इसलिये ये चारों नियम मानव अथवा राष्ट्र के एक विशिष्ट मध्यबिन्दु हैं। अपने सिवाय अन्य प्राणियों के लिये अमानवता का वर्तन करके स्वाभाविक सुख-शान्ति के भङ्ग होने से राष्ट्र में अशान्ति न हो इसलिये राष्ट्र नियन्त्रण करता है। परन्तु व्यक्तिगत सुख, दुःख, शान्ति और अशान्ति के लिये राष्ट्र उत्तरदायी नहीं है। इसलिये वैयक्तिक सुख-शान्ति की पूर्ति के लिये मानव के पास नैसर्गिक ज्ञान होने पर भी सुख-शांति सम्बन्धी भोगोपभोग सामग्री प्राप्त करते समय दया, क्षमा, दान, पूजा, जप और ध्यान भी मनुष्य के पास नैसर्गिक दृष्टिगोचर होते हैं।

दया—माता, पिता, गुरु, धर्नी या श्रेष्ठ पुरुषों की हम दया चाहते हैं इसीलिये दया नैसर्गिक है।

(बड़े लोगों की दया होने से मन को सुख-शांति मिलती है और दया न होने से अशान्ति मिलती है)

क्षमा—प्रत्येक मनुष्य को ऐसी इच्छा रहती है कि मेरे अपराधों को लोग भूल जायँ और दण्ड न मिल कर क्षमा कर दिये जायँ। इस पर से क्षमा की नैसर्गिकता सिद्ध होती है।

(अपने अपराधों की क्षमा मिलने से मन में सुख-शान्ति पैदा होती है और दण्ड मिलने से अशान्ति)

दान—प्रत्येक मनुष्य को ऐसी इच्छा होती है कि हमें दूसरों से कुछ न कुछ मिले इसलिये दान स्वाभाविक है।

(अपनी इच्छा-पूर्ति के लिये दूसरे के द्वारा दान दिये जाने पर मन को सुख-शान्ति मिलती है और न दिये जाने से अशान्ति)

पूजा—प्रत्येक मनुष्य के मन में ऐसी इच्छा होती है कि सब लोग मुझे आदरपूर्ण दृष्टि से देखें इसलिये सन्मान या पूजा का ज्ञान स्वाभाविक सिद्ध होता है।

(दूसरों द्वारा अपना आदर-सत्कार किया गया तो मन को सुख-शान्ति मिलती है और अनादर किये जाने पर अशान्ति)

जप—प्रत्येक मनुष्य को ऐसी इच्छा होती है कि लोग मेरा गुणगान करें इसलिये यह सिद्ध होता है कि स्तुति-प्रियता (जप) स्वाभाविक है।

(दूसरों द्वारा अपना गुण-गान (जप) किया गया तो मन को सुख-शान्ति मिलती है और अगर निन्दा की गई तो अशान्ति)

ध्यान—प्रत्येक मनुष्य आवश्यक वस्तु देख कर उसे अपने ध्यान में रखता है। बौद्धिक संस्कार के अनुसार कुछ न कुछ मनन करता है, मनन करके दृढ़ ध्यान करता है और फिर व्यवहार में लाता है; इसलिये ध्यान नैसर्गिक सिद्ध होता है।

(ध्येय वस्तु मिलने से सुख-शान्ति मिलती है और न मिलने से अशान्ति)

इस प्रकार अहिंसादिक चार नियमों का उल्लङ्घन कर के राष्ट्र में अशान्ति फैलाने से दण्ड मिलता है पर दयादिक छः नियमों के विषय में राष्ट्र का उत्तरदायित्व नहीं है फिर भी यदि इनका परस्पर उपयोग किया जाय और राष्ट्र में इनका व्यवस्थित शिक्षण दिया जाय तभी पूर्ण सुखशान्ति सम्भव है।

मान लो कोई व्यक्ति अन्न-वस्त्र के अभाव में पीड़ित है तो सुसम्पन्न व्यक्ति को अन्न वस्त्र का दान देकर उसका संरक्षण करना चाहिये। उसी प्रकार कोई अन्धा व्यक्ति मार्ग भूल गया तो उसे मार्ग दिखा कर दया का उपयोग करना आँख वालों का कर्त्तव्य हो जाता है। यदि ऐसा न किया गया तो राष्ट्र की दृष्टि से यह अपराध न हुआ, फिर भी यह कर्त्तव्य विमुखता है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य्य आदि चार नियम और दयादि छः नियमों का विवेचन राष्ट्रीय सुख-शान्ति

की अपेक्षा किया गया है परन्तु साध्य की दृष्टि से अहिंसादिक सात पूर्व पक्ष और पूजा, जप और ध्यान उत्तर पक्ष समझना चाहिये।

ऊपर लिखे हुए दस नियम मनुष्यों में स्वाभाविक होने पर भी भिन्न--भिन्न प्रकृति-धर्म के अनुसार न्यूनाधिक रूप में पालन किये जाते हैं इसका कारण यह है कि मनुष्यों में ओज-शक्ति न्यूनाधिक होती है। ओज-शक्ति प्राप्त करने के लिये और उसका विकास करने के लिये पूजा, जप, और ध्यान ये तीन साधन विशेष उपयोगी हैं इसलिये ओज-निर्माण करने के लिये इन तीन नियमों पर अधिक जोर देना चाहिये। तभी हममें अहिंसादिक अन्य सात नियमों के विकास करने की योग्यता प्राप्त होगी। इस प्रकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य, दया, क्षमा, दान, पूजा, जप और ध्यान इन दस नियमों का व्यापक रूप बताने के लिये जो व्यवस्थित प्रमेय और शृङ्खलाबद्ध व्यवहार जहाँ सिखाया जाता है वहीं पर सत्य-धर्म, मानव-धर्म और धर्म-विज्ञान समझना चाहिये। वास्तव में धर्म संसार में एक ही है उसमें कहीं भिन्नता नहीं।

शैव, वैष्णव, गाणपत्य, सौर, शाक्त, बौद्ध, क्रिश्चियन, इस्लामी, यहूदी, पारसी और जैन आदि अनेक धर्म कहे जाते हैं परन्तु ये धर्म नहीं मत-पन्थ हैं। कई प्रभावशाली व्यक्तियों ने समयानुसार भिन्न--भिन्न कल्पना करके इस मत-

पन्थों का निर्माण किया है । शिव की उपासना करने वाले शैव, विष्णु की उपासना करने वाले वैष्णव, शक्ति की उपासना करने वाले शाक्त, गणपति की उपासना करने वाले गाणपत्य, सूर्य्य की उपासना करने वाले सौर, बुद्ध की उपासना करने वाले बौद्ध, ईसाई इस्लामी इत्यादि मत-पन्थ उपासना भेद तथा क्षेत्र कालानुसार निर्मित किये गये हैं । इन सबके संस्थापकों ने अपने-अपने ज्ञान के अनुसार द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शक्तिविशिष्टाद्वैत केवलाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत और अनेकान्त आदि सिद्धान्त और सांख्यादिक और मीमांसादिक सूत्र, पिटक, ग्रन्थ, कुरान, बाइबिल इत्यादि द्वारा मूल स्वाभाविक सत्य वस्तु सम्बन्धी प्रत्यक्ष, शब्द और अनुमानादिक प्रमाणों द्वारा अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार सिद्धान्तों का प्रणयन किया है । उनके नाम का आधार लेकर स्वार्थियों ने भिन्न-भिन्न समूहों का निर्माण करके मानव जाति को खण्ड--खण्ड कर दिया है ।

भारतवर्ष में राजकीय ध्येय के लिये कांग्रेस, हिन्दू महा सभा, मुस्लिम-लीग, समाजवादी-दल और कम्यूनिस्ट आदि अनेक वाद जैसे वर्तमान काल में हैं वैसे भूतकाल में कभी नहीं थे । उसी प्रकार पाँच हजार वर्ष पहिले एक ही मानवधर्म था पीछे से मूल सद्धर्म को विशिष्ट रूप देकर ये मत-पंथ बनाये गये । प्रत्येक मनुष्य में पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और काम क्रोधादि षड-विकार समाविष्ट हैं

और निसर्ग-शक्ति सबका एक ही तरह से नियन्त्रण करती है। सब मनुष्यों के भीतर मूल शक्ति एक ही प्रकार की है इसलिये प्रचलित रूढ़ि द्वारा आविष्ट मत-पन्थों को धर्म न कह कर उस स्वाभाविक गूढ़ शक्ति को ही धर्म मानना चाहिये।

आधुनिक विचारधारा वाले अनेक मनस्वी मानव-निर्मित मत-पन्थों को धर्म मान कर "धर्म और राष्ट्र का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है" ऐसी घोषणा करते हैं! उन्हें समझना चाहिये कि धर्म मत-पन्थों से भिन्न सब मत-पन्थों में व्यापक स्वभाव-सिद्ध तत्व है। राष्ट्र को उससे अलग नहीं किया जा सकता; क्यों कि धर्म राष्ट्र का जीवन है। मानव राष्ट्र का घटक है और धर्म के बिना मनुष्य का होना असंभव है इसलिये धर्म, मानव और राष्ट्र किसी को छोड़ कर कोई पूरा नहीं हो सकता। संसार में सुख-शान्ति फैलाने के लिये राष्ट्र के सभी मानवों को मत-पंथातीत और जाति-भेदातीत शुद्ध धर्मावलम्बी होना चाहिये।

अनेक मत-संस्थापक स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार नहीं देते, वे समझते हैं कि जिस तरह भोगोपभोग के अन्य अनेक पदार्थ हैं उसी प्रकार वह भी एक विलास का साधन है। उनकी मान्यता है कि स्त्रियों को पुरुषों के सम्पूर्ण आधीन रहना चाहिये और धार्मिक नियमों को पालन करने के लिये स्त्रियाँ स्वतन्त्र नहीं हैं। पुरुष जिस धर्म का

आचरण करते हैं उसका फल विना परिश्रम ही पत्नी को मिल जाता है ऐसा कह कर स्त्री-समाज को विद्या और धर्म-ज्ञान से वञ्चित रख कर परतन्त्र बनाया जाता है। इस प्रकार स्त्री-समाज बलहीन बना हुआ है। हमारा तो यह विश्वास है कि राष्ट्र की उच्च संस्कृति के निर्माण करने का काम प्रधान तो स्त्रियों पर ही अवलम्बित है। स्त्रियों को योग्य शिक्षण देकर उनके विचार-पावित्र्य का संरक्षण किये विना भावी पीढ़ी का कल्याण नहीं हो सकता! अर्थात् स्त्रियों को मानव-ध्येय से वञ्चित न रख कर पुरुषों के समान ही मानव-धर्म का व्यवस्थित शिक्षण देना चाहिये। राष्ट्र के आधुनिक शिक्षण-क्रम में परिवर्तन करके प्राचीन आश्रम पद्धति के अनुसार अभ्यास करायें बिना भी राष्ट्र में सुख-शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। अपनी वैयक्तिक और राष्ट्र की सार्वत्रिक सुव्यवस्था रखने के लिये वर्ण और आश्रम प्रत्येक मनुष्य के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं, जो सभी मनुष्यों में स्वाभाविक ही विद्यमान हैं।

ब्राह्मणत्व — ज्ञान और वाक्-सामर्थ्य से अपनी उन्नति करने के लिये मनुष्य के पास रहने वाली नैसर्गिक बौद्धिक शक्ति ही ब्राह्मणत्व है।

क्षत्रियत्व — भक्षण-तक्षण करने के लिये यदि कोई आयें तो उससे संरक्षण करने की नैसर्गिक शक्ति को क्षत्रियत्व कहते हैं।

वैश्यत्व—अपनी आजीविका के लिये अन्न-वस्त्रादि साम्रियों का निर्माण करना और उनका क्रय-विक्रय करने की नैसर्गिक शक्ति को ही वैश्यत्व कहते हैं।

शूद्रत्व—अपने शरीर-संरक्षण करने के लिये मलमूत्र त्यागादि के समय स्वच्छता रखने और विविध सेवा करने की नैसर्गिक प्रवृत्ति को ही शूद्रत्व कहते हैं।

इसी तरह राष्ट्र में भी वर्ण-व्यवस्था स्वाभाविक है।

प्रजा के ज्ञान-विकास के लिये राष्ट्र की ओर से शिक्षण-संस्थाओं का जो संचालन होता है वही स्वाभाविक ब्राह्मणत्व है। राष्ट्र पर किसी ने आक्रमण किया तो अपने सैन्य बल से राष्ट्र का संरक्षण करने की प्रवृत्ति नैसर्गिक क्षत्रियत्व है। प्रजा के लिये अन्न-वस्त्रादि निर्माण करना और देश विदेश से भोगोपभोग-वस्तुओं का आदान-प्रदान करना राष्ट्र का नैसर्गिक वैश्यत्व है। राष्ट्र की स्वच्छता और सुव्यवस्था के लिये औषधालय, लोकलबोर्ड, नगरपालिका और ग्राम-पंचायतादि का निर्माण करना राष्ट्र का नैसर्गिक शूद्रत्व है।

इस पर से ऐसा सिद्ध होता है कि वर्ण के बिना मानव का व्यक्तिगत और राष्ट्रीय जीवन असम्भव है। जब से भिन्न-भिन्न मत-मतान्तर निर्माण हुए तभी से वर्ण-व्यवस्था नष्ट हुई और पन्थों के नाम से बड़ी-बड़ी जातियों का सङ्घर्ष शुरू हो गया और अखंड देश की सङ्घ-शक्ति बिगड़ गई। जब तक वह वर्ण-व्यवस्था सुसंस्कृत रूप में भारत

में पुनः स्थापित न की जायगी तब तक सब घोटाला ही घोटाला है। सङ्घ-शक्ति का विभाग नहीं होने से वर्तमान काल में एक ही व्यक्ति ब्राह्मण-वैश्य, क्षत्रिय-शूद्र, क्षत्रिय-वैश्य, ब्राह्मण-शूद्र और ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि दो-दो मिश्र वर्णों का उद्योग करते हैं इसलिये एक ही जगह धन का ढेर लग जाता है क्यों कि वहां श्रम विभाग तत्व का उपयोग नहीं किया जाता।

वकील अपना व्यवसाय करके भी व्यापार और खेती के द्वारा अन्य व्यापार करके अपनी पैदावार बहुत बढ़ा लेता है उसी प्रकार सैनिक को भी समझना चाहिये क्यों कि वह भी क्षात्र-व्यवसाय करके पैसा कमाता है और उससे खेती और व्यापार करके पूंजी से पूंजी बढ़ाने का प्रयत्न करता है; कहने का उद्देश्य यह है कि एक व्यक्ति को अपनी आजीविका का कार्य एक ही वर्ण-धर्म के अनुसार करना चाहिये। राष्ट्र की आर्थिक दृष्टि से विचार किया जाय तो देश में सूत और कपड़ों के बड़े-बड़े कारखाने जीनिङ्ग-फेक्टरीज, तेल की घाणियाँ, कूटने-पीसने की मशीनें बहुत हैं परन्तु जहाँ तक हो सके शरीर श्रमावलम्बी यन्त्रों का उपयोग करने से सामुदायिक धन संग्रह न होकर सब में विभाजित हो जाता है। जन-संख्या कम हो, काम बहुत हो, तब यन्त्र का उपयोग होता है। योग्य धंधों के अभाव में लोग भूखों मरने लगेंगे तो उनका कोई उपयोग

नहीं। ऐसे यन्त्र वर्ण-व्यवस्था की पद्धति के लिये घातक हैं। शारीरिक संरक्षण के लिये अनावश्यक नाटक, सीनेमा, चाय, गाँजा, मद्यपान आदि व्यवहारों को राष्ट्र की ओर से बन्द न किया जायगा तो पैसे का बचाव नहीं होगा और राष्ट्र की शक्ति धीरे-धीरे कम हो जायगी।

जिस प्रकार चारों वर्ण राष्ट्र के आधार हैं और स्वाभाविक रूप से सदैव उपयोगी हैं उसी प्रकार चारों आश्रम भी मनुष्यों में स्वाभाविक हैं और समान रूप से उपयोगी हैं। बाल्यावस्था में बच्चे-बच्चियों की वैयक्तिक भावना मन्द होने से ब्रह्मचर्य्य स्वाभाविक है।

तारुण्य अवस्था में दाम्पत्य अवस्था स्वाभाविक होने से गृहस्थाश्रम उपयोगी ही है। वृद्धावस्था में शरीर-दौर्बल्य होने से गृह-संरक्षण सम्बन्धी स्वाभाविक अपात्रता के कारण वन-प्रस्थान के लिये ही वानप्रस्थाश्रम है। सबके बाद सर्व-कर्म-सन्यास स्वाभाविक ही है।

इस प्रकार मनुष्यों के लिये नैसर्गिक चारों अवस्थाओं में ज्ञान-शक्ति द्वारा विकास करके मानवता के बाहर न जाने योग्य आयुष्य का विभाजन करके जीवन को सुख-शान्तिमय करना चाहिये।

इसलिए वर्णाश्रम व्यवस्था का आधार बना कर उत्तम मानवता का शिक्षण देने वाली संस्थाएँ स्थापित किये बिना

राष्ट्र में सुख-शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। भारत देश का ध्येय विश्व में शान्ति स्थापित करना है। भारतवर्ष का राष्ट्र-ध्वज अशोक-चक्र गोल है जो विश्व-गोल को शोक रहित करना चाहता है।

परमात्मा अगणित, अक्षय, अरूपी और निर्गुण है इसलिए यह भारतीय ध्वज भी परमात्मा का बोध कराने वाला है।

गणित में जिस प्रकार बिन्दु गोल है और व्याकरण में जिस प्रकार अनुस्वार गोल है उसी प्रकार राष्ट्र में अशोक–चक्र गोल है। बिन्दु और अनुस्वार की तरह अशोक–चक्र भी स्वाभाविक और परमात्म-बोधक है।

व्याकरण-शास्त्र में सम्पूर्ण व्यञ्जन अकारादि स्वरों के आधार विना बोले नहीं जा सकते परन्तु अनुस्वार स्वयं-भू है उसके लिये स्वर के आधार की आवश्यकता नहीं, उसी प्रकार गणित-शास्त्र के नियमानुसार एक से लगा कर नौ अङ्क तक सब अङ्क मर्यादित संख्या का बोध कराते हैं किन्तु शून्य अङ्क अगणित हैं, असंख्य हैं, अनन्त हैं।

उसी प्रकार भूगोल और खगोल के नियमानुसार आकाश बिन्दु सरीखा गोल है और पृथ्वी भी मर्यादित स्थान तक गोल ही दीखती है इसलिये गोल बिन्दु विश्व-वाचक है।

योग-शास्त्र के अनुसार प्राणायाम करने वाले साधक को अपने भाल प्रदेशान्तर्गत एक प्रकाशमान बिन्दु दिखाई देता

है। इस तरह यह सिद्ध होता है कि अनेक दृष्टियों से परमात्मा का दर्शन होने के लिये उसके सारे लक्षण बिन्दु के स्थान में समाविष्ट हो गये हैं।

विश्व-नियामक परमात्मा का प्रतीक जिस प्रकार बिन्दु है उसी प्रकार हमारे राष्ट्र का प्रतीक भी अशोक चक्र विश्व शान्ति का प्रतीक है। हमारा राष्ट्र मानव-धर्म की स्थापना करके सम्पूर्ण विश्व को शान्ति की ओर ले जाय इसके लिये उसमें मानव-धर्म का वैज्ञानिक शिक्षणक्रम प्रारम्भ करना चाहिये।
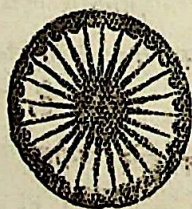
विज्ञान

परमात्मा निर्गुण, निराकार, सर्वव्यापक और स्वाभाविक शक्ति से समन्वित है। उस स्वाभाविक शक्ति में भाव, प्राण और भूत ये तीन द्रव्य अव्यक्त दशा में अविनाभाव सम्बन्ध से रहते हैं। अव्यक्त-अवस्था कारणावस्था कहलाती है, उस कारणावस्था में रहे हुए ये तीनों तत्व कार्य रूप से विकास प्राप्त करके चराचर विश्व-रूप बन जाते हैं। इस प्रकार व्यक्त से अव्यक्त और अव्यक्त से व्यक्त, कारण से कार्य और कार्य से कारण निरन्तर बदलते रहते हैं।

मनुष्य विश्व का एक घटक होने से अल्प-ज्ञान, अल्प-कर्तृत्व और एकदेशीयत्व से ऊपर उठ कर इनकी पूर्णावस्था की तरफ जाना ही चाहता है। मनुष्य का ध्येय उसी निर्गुण, निराकार और सर्वव्यापकत्व को प्राप्त करना है।

हाइड्रोजन और ऑक्सिजन इन दोनों प्रकार की सूक्ष्म हवाओं के संयोग से पानी और पानी का बर्फ होना है और फिर उस बर्फ एवम् पानी के हाईड्रोजन और ऑक्सिजन वायु होते हैं इस तरह से मूल स्वाभाविक शक्ति के भाव, प्राण और भूत कार्य रूप विकास

प्राप्त करके जीव और जड़ बनते हैं और फिर रूपान्तर होते-होते कारण रूप मूल प्रकृति में समाविष्ट हो जाते हैं। जीव के पृथक्करण करने पर उसमें भूत, प्राण और भाव ये तीनों द्रव्य मुख्यतः दृष्टिगत होते हैं। भूत द्रव्य का कार्य जड़ शरीर बनता है और प्राण द्रव्य का कार्य स्थूल शरीर को धारण करने वाला और चेतना देने वाला सूक्ष्म शरीर रूप बनता है और स्थूल व सूक्ष्म अर्थात् भूत व प्राण इन द्रव्यों को कार्य रूप परिणत होने में जो युक्त करता है उसे भाव कहते हैं।

एक मोटर है जो वायु स्फोट से सड़क पर चलती है उसे उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचाने के लिये नियन्त्रण करने वाला एक ड्रायवर चाहिये उसी तरह पृथ्वी आदि पंचभूतों से बनने वाला शरीर मोटर सरीखा एक स्थूल तत्व है, इसको चलन, धावन आदि प्रसङ्ग पर चेतना देने वाला प्राण-तत्व है और उसे सूक्ष्म शक्ति पर नियमन करके उद्दिष्ट स्थान पर ले जाने वाले ज्ञानवान पुरुष के समान एक भाव तत्व है। मनुष्य को अमुक स्थान पर जाना चाहिये इस प्रकार अन्तःस्थ वृत्ति रूप से जो सन्देश देता है वह भाव तत्व है। सन्देश मिलते ही इन्द्रियों को चैतन्य देने वाला प्राण तत्व है और प्रत्यक्ष जड़ शरीर की क्रिया भूत तत्व है। कोई भी कार्य भाव तत्व के सन्देश दिये बिना नहीं हो सकता। वह भाव तत्व चार प्रकार का कहलाता है :—

ऊर्ध्वभाव, अधोभाव, नैसर्गिकभाव और अनैसर्गिकभाव ।

ऊर्ध्वभाव—जिस भाव से ऐसा कर्म किया जाता है कि जिसका सेन्द्रिय फल वर्तमान काल में न दिखते हुए भविष्य काल के लिये बच कर रहता है वह 'ऊर्ध्वभाव' है।

उदाहरणार्थः—माता, पिता, आचार्य, अतिथि और परमेश्वर की सेवा करने में जो भाव होता है उसे 'ऊर्ध्व-भाव' कहते हैं ।

अधोभाव—पूर्वजन्म की अर्थात् भूतकाल की प्रच्छन्न अवस्था में रहा हुआ भोग जिस कर्म के योग से विभाजित होता है उस कर्म के लिये आवश्यक जो भाव है वह 'अधोभाव' कहलाता है ।

उदाहरणार्थः—पुत्र, स्त्री, धन, सम्पत्ति और रोगादिक भोगों में अधोभावना का उपयोग होता है ।

नैसर्गिकभाव—अपनी स्वाभाविक अनुकूलता के अनुसार दूसरों से व्यवहार करते समय जो भाव दुःखोत्पादन को रोक कर सुखोत्पादन की पात्रता निर्माण करता है वह 'नैसर्गिक भाव' है ।

उदाहरणार्थः—"अपने को कोई मारे नहीं" यह हमें अनुकूल मालूम होता है इसलिये हम भी किसी को न मारें यह अहिंसाभाव नैसर्गिक है ।

"अपने से कोई झूठ न बोले" यह हमें अनुकूल

मालूम होता है, इसलिये सबके प्रति सत्य बोलने की भावना नैसर्गिक है।

"अपनी चोरी कोई न करे" यह हमें अनुकूल प्रतीत होता है, इसलिये "किसी की चोरी नहीं करनी चाहिये" यह अस्तेय-भाव नैसर्गिक है।

अपनी स्त्री पर-पुरुष से अशुद्ध प्रेम न करे, यह अपना भाव नैसर्गिक अनुकूल है, उसी तरह अपना पति पर-स्त्री पर अशुद्ध प्रेम न करे ऐसा भाव स्त्री के लिये नैसर्गिक अनुकूल है; इस तरह ब्रह्मचर्य्य भाव नैसर्गिक है।

अनैसर्गिकभाव—अपनी नैसर्गिक अनुकूलता के विरुद्ध दूसरों से व्यवहार करते समय जो भाव होता है और जो केवल वर्तमान काल में ही सुख रूप मालूम होकर भविष्य काल में दुःख रूप में विभाजित होता है उस भाव को अनैसर्गिक भाव कहते हैं।

उदाहरणार्थः—"हमें कोई मारे नहीं" इस नैसर्गिक भाव के विरुद्ध दूसरों की हिंसा करना अनैसर्गिक भाव है। इसी प्रकार असत्य, चोरी और कुशील भी हम अपने लिये प्रतिकूल समझते हैं इसलिये दूसरों के लिये ऐसा व्यवहार करना अनैसर्गिक भाव है। इन चारों भावों का फल निम्न लिखित समझना चाहिये :—

ऊर्ध्वभाव सुखोत्पादक है, अनैसर्गिक दुःखोत्पादक है, अधोभाव सुख-दुःख का विभाजक है और नैसर्गिक भाव सुख

प्राप्ति के लिये योग्य पात्रता निर्माण करके दुःखोत्पादन नहीं होने देता ।

इन चारों भावनाओं का विकास करने के लिये जो साधन है उसे "मूल्य" कहते हैं । वह मूल्य साध्य रूप से एक और साधन रूप से तीन हैं, इस प्रकार कुल चार द्रव्यों को ठीक तरह समझ लेना चाहिये ।

साध्यद्रव्य—मनुष्य को कुछ न कुछ चाहिये ऐसी एक अखण्ड इच्छा रहती है, इसे "साध्य-द्रव्य" कहते हैं ।

साध्य-द्रव्य दो प्रकार का है एक "गणित-साध्य-द्रव्य" दूसरा "अगणित-साध्य-द्रव्य" गणित-साध्य-द्रव्य विशिष्ट के साथ सम्बद्ध है और अगणित-साध्य-द्रव्य सामान्य के साथ सम्बद्ध है ।

कालद्रव्य—भूत, प्राण और भाव तत्व के विकास और विलीन होने के बीच जो अन्तर होता है उसे "काल" कहते हैं ।

कर्मद्रव्य—साध्य संकल्प की प्राप्ति के लिये शारीरिक और मानसिक परिश्रम "कर्म-द्रव्य" है ।

ज्ञानद्रव्य—साध्य संकल्प की सिद्धि करने के लिये योग क्रिया को प्रकाशित करने वाला "ज्ञान-द्रव्य" है ।

उदाहरणार्थः—धन चाहिये ! ऐसी इच्छा पैदा होती है, यह इच्छा "साध्य-द्रव्य" है ।

उस इच्छा की पूर्ति के लिये योग क्रिया का प्रकाशन करने वाला "ज्ञान-द्रव्य" है। कार्य के प्रारम्भ से पूर्णाहूति पर्यन्त जो अवधि है वह 'काल-द्रव्य' है और उस अवधि में शारीरिक अथवा मानसिक श्रम करना 'कर्म-द्रव्य' है। साध्य और साधनात्मक इन चारों वस्तुओं का उपयोग करने से जिस 'मूल्य' का निर्माण होता है उसके बदले प्रत्यक्ष धन मिलता है।

मुझे खेत में जाना है ऐसा संकल्प 'साध्य-द्रव्य' है, खेत अमुक दिशा में है, इसलिये अमुक मार्ग से जाना चाहिये यह बताने वाला 'ज्ञान-द्रव्य' है; ज्ञान-सन्देश मिलते ही इन्द्रियों के संचालन से शारीरिक और मानसिक परिश्रम 'कर्म-द्रव्य' है और खेत तक जाने में जिस समय का उपयोग होता है वह 'काल-द्रव्य' है।

'खेत पर जाना है' इस सूक्ष्म सङ्कल्प सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान इन तीन साधन द्रव्यों का उपयोग करते ही उपर्युक्त 'मूल्य' का बदला मिलता है उसी का नाम खेत तक पहुँचना है।

उसी प्रकार साध्य-सङ्कल्प सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान रूप साधन द्रव्यों का उपयोग करते ही मनुष्य को उस मूल्य के बदले में अभिलषित भोग्य पदार्थ प्राप्त होते हैं। इस पर से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य का मूल्य अखंड और स्वाभाविक है।

मनुष्य ऊर्ध्वभाव, अधोभाव, नैसर्गिकभाव अनैसर्गिकभाव इन चारों प्रकार के भावों में से किसी न किसी एक तरह के भाव के आधीन रहता ही है और इन भावनाओं की प्रेरणा से होने वाले साध्य संकल्प के विकास के लिये काल, कर्म और ज्ञान रूप साधन-त्रय का जो उपयोग होता है उससे अखण्ड और स्वाभाविक 'मूल्य' का निर्माण होता रहता है ।

मनुष्य प्राणी कर्माधीन होने से एक क्षण भी विना कर्म के नहीं रह सकता । कर्म दो प्रकार के हैं:-- पहला उत्पादक और दूसरा विभाजक ।

उत्पादक कर्म का अर्थ है:— कार्यावस्था से रूपान्तरित होकर कारणावस्था में पहुंचना। विभाजन कर्म का अर्थ है— कारणावस्था से कार्य-रूप वस्तु वनना ।

संसार की सव वस्तुएँ उत्पादक अवस्था में उर्ध्वगामिनी होती हैं और विभाजक अवस्था में अधोगामिनी ।

उदाहरणार्थः—पानी का भाप वन कर सूक्ष्म वायु के रूप से संग्रहबद्ध रहना, वर्षा का उत्पादक है और इस सूक्ष्म वायु का भाप और भाप का पानी वन कर वर्षा करना विभाजक है ।

प्राणियों के अनुभव में आने वाले सुख दुःख जिन कारणों से उत्पन्न होते हैं उन्हें भोगोत्पादक-कर्म कहते हैं

और जिन कारणों वे प्रत्यक्ष अनुभव में आते हैं उन्हें भोग विभाजक कर्म कहते हैं ।

सुख दो प्रकार के हैं:— लौकिक और पारमार्थिक। लौकिक सुख में 'मैं' और 'मेरा' ऐसे दो बिन्दुओं की कल्पना कीजिये । 'मैं' देखने वाला है और 'मेरा' दृश्य है । इन दृष्टा और दृश्य दोनों बिन्दुओं के बीच संपूर्ण सृष्टि का व्यवहार चल रहा है । पारमार्थिक सुख दृश्य और दृष्टा इन दोनों से अतीत है । उसी अतीत सुख को निर्वाण, साइज्य, मोक्ष, अपरान्तकाल, वैकुण्ठ इत्यादि भिन्न-भिन्न नामों से सम्बोधित किया जाता है । मनुष्य को लौकिक, पारलौकिक और पारमार्थिक किसी न किसी सुख की अपेक्षा रहती ही है । पारलौकिक सुख भी लौकिक सुख की एक विशेषता का नाम ही है । सुख वस्तु निर्माण करने की नहीं है परन्तु जड़ चेतनात्मक भोग वस्तु स्वभाव सिद्ध ही है, उस सुख रूपी साध्य वस्तु और उसकी इच्छा करने वाले जीव के मध्य में रहे हुए आवरण को छेद करना यानी उन इच्छित भोग वस्तुओं के प्राप्त करने के लिये उनका मूल्य देना. ही पड़ता है, तभी सुख वस्तु प्राप्त हो सकती है । प्रत्येक व्यक्ति को सुख प्राप्ति के लिये उसका मूल्य चुकाये बिना भोगोपभोग वस्तु प्राप्त नहीं होती; अगर बिना मूल्य चुकाये सब भोग पदार्थ मिलते होते तो मनुष्य पशु, पक्षी, कृमि, कीटकादि सब

प्राणियों को समान सुख दुःख मिला होता! इतना ही नहीं, इन प्राणियों के रूप में भेद ही नजर नहीं आता। अगर विना मूल्य दिये भोग्य पदार्थों में विषमता होती तो निसर्ग शक्ति को हमें अनियन्त्रित मानना पड़ता परन्तु निसर्ग शक्ति नियन्त्रित और न्याय-शील सत्ता के आधीन है, इसलिये सम्पूर्ण भोग्य वस्तु बिना मूल्य दिये प्राप्त नहीं होती।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, हेमन्त ग्रीष्म वर्षादि काल, सूर्य चन्द्र का प्रकाश इत्यादि मनुष्य और पशु-पक्षियों के संरक्षण के लिये सब जीवों को समान रूप से विना मूल्य प्राप्त होते हैं परन्तु आयुष्य, आरोग्य, सन्तति सम्पत्ति, विद्या, बुद्धि आदि सम-प्रमाण से नहीं मिलते; इसलिये ये सब मूल्यवान हैं और इसीलिये विना मूल्य चुकाये प्राप्त नहीं हो सकते।

साधारण तौर पर आयुष्य; आरोग्य, सम्पत्ति, विद्या, बुद्धि आदि जो वस्तुएँ हमें वर्तमान काल में मिली हुई हैं वे सब विना कीमत चुकाये ही मिल गई हैं, ऐसा मालूम होता है परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि इनका मूल्य हमने नहीं चुकाया है! पूर्व काल में हमने इनका मूल्य अवश्य चुकाया है, भले आज हमें स्मरण न रहा हो!

प्रत्येक मनुष्य का व्यवहार उत्पादक और विभाजक कर्म से युक्त होता है। पूर्व जन्म का उत्पादन इस जन्म में

विभाजित होते-होते आगामी जन्म के लिये उत्पादन भी करता रहता है ।

बहुत से मत-प्रवर्तक प्रत्यक्ष प्रमाण न मिलने से पुनर्जन्म को नहीं मानते तो भी अल्पज्ञ जीवों को अनुमान प्रमाण द्वारा पुनर्जन्म समझाया जा सकता है । जिस प्रकार ऊर्ध्व लोक का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता तो भी अनुमान प्रमाण से मानना पड़ता है । प्रत्येक प्राणी के माता-पिता होते हैं, उन्होंने जो जन्म दिया है उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो सकता फिर भी माता-पिता के सन्तान-वात्सल्य को देख कर अनुमान द्वारा हमें मानना पड़ता है ।

यदि पुनर्जन्म नहीं होता तो हम पूछते हैं कि सब जीव एक सरीखे क्यों नहीं हैं ? कोई अल्पायु, कोई दीर्घायु, कोई नीरोगी, कोई रोगी, कोई दरिद्री, कोई श्रीमंत, कोई ज्ञानी, कोई अज्ञानी, कोई कुरूप, कोई सुरूप इसप्रकार परस्पर विरोध होने का कारण क्या ? अगर इस में माता पिता का दोष माना जाय तो यह असंगत है । दरिद्र के पेट में जन्मे हुए बालक आगे जाकर श्रीमन्त बन जाते हैं, नीरोगी माता पिता के रोगी लड़के पैदा होते हैं, इस पर से सिद्ध होता है कि ये सारी विषमताएँ पूर्व जन्म के कर्मों का फल है ।

बहुत से मत प्रवर्तक अन्ध श्रद्धा से ईश्वर को ही सब विषमताओं का कारण मानते हैं परन्तु परमेश्वर व्यक्ति के

समान साकार न होकर निर्गुण, निराकार, सर्वान्तर्यामी, 'सर्व-प्रेमी, सर्वाधार और न्यायी होने से उस पर विषमता का आरोप करना अनुचित है।

रात को अन्धेरे में हमें मित्र मिला या शत्रु। मित्र का हम स्वागत करते हैं और शत्रु का प्रतीकार परन्तु आँखों के लिये प्रकाश की अत्यन्त आवश्यकता है जो (प्रकाश) न तो मित्र के स्वागत के लिये कहता है और न शत्रु के प्रतीकार के लिये ही। प्रत्येक मनुष्य के अन्तःकरण में मित्रता और शत्रुता नाम की दो वृत्तियाँ स्वाभाविक रूप से रहती हैं जो आत्म-प्रकाश से प्रकट होती हैं। मित्र को शत्रु और शत्रु को मित्र समझना यह सब अन्तःकरण के धर्म पर अवलम्बित है, इसी प्रकार परमेश्वर पृथगात्मक रूप से व्याप्त होकर सूर्य प्रकाश के अनुसार योग्य, अयोग्य दोनों वृत्तियों को मनुष्य की ज्ञानचक्षु के सामने रखता है। योग्य-अयोग्य कर्म में प्रवेश करना यह अपनी-अपनी मनोवृत्ति पर निर्भर है। संसार के सभी मनुष्य योग्य और अयोग्य को स्वाभाविक तौर से समझते ही हैं। सामान्यतः उन्हें हित और अहित का ज्ञान होता ही है।

चोर चोरी करने को जाता है और व्यभिचारी स्त्री-पुरुष गुप्त रीति से व्यभिचार करते रहते हैं तो "हम यह अहित-कारी कार्य कर रहे हैं" ऐसा जान कर ही करते हैं, इसी लिये तो उन्हें डर मालूम होता है।

एक पशु की तरफ से अगर हिंसा होती है तो "अपने अयोग्य व्यवहार के बदले मुझे दण्ड मिलेगा" ऐसा डर उसे नहीं रहता; इस पर से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य को स्वाभाविक रीति से हिताहित का भान होता है।

मनुष्य की ओर से सुकृति और दुष्कृति होती है उनकी स्मृति न रहे तो भी उसे फल तो भोगना ही पड़ता है। मनुष्य प्राणी अल्पज्ञ होने से सब कर्म उसके ध्यान में नहीं रहते, एक कर्म पर दूसरे कर्म का आवरण होने से पूर्व कर्म की स्मृति दब सी जाती है। यह भौतिक शरीर जड़ होने के कारण इसमें तो मनुष्य को स्मृति हो ही नहीं सकती, फिर भी अन्दर के प्राण और भाव इन सूक्ष्म द्रव्यों पर किये हुए सभी कर्म आवरण रूप से सिलसिलेवार संग्रहीत रहते हैं; उन्हीं के अनुसार स्वाभाविक तौर पर योग्य काल में सुकृति और दुष्कृति का योग्य फल मिलता रहता है। इस जन्म में ऊर्ध्वभाव सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करने से दूसरे जन्म में सुख की उत्पत्ति होती है और अनैसर्गिक भाव सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करने से अगले जन्म में दुःख की उत्पत्ति होती है कारण कि ऊर्ध्व भाव और अनैसर्गिक भाव प्राणि मात्र के सुख दुःख के कारणों को प्राण और भाव इन दोनों सूक्ष्म तत्वों में संचित रखते हैं, जो समय समय पर सिलसिलेवार विकसित हो कर सुख दुःख रूप से अपने आप विकसित होते रहते हैं।

उदहरणार्थः— कैमरे से फ़ोटू निकालते समय मनुष्य का प्रतिबिम्ब पारदर्शक लेन्स में से अन्दर के काँच पर पड़ता है। कितने ही फ़ोटू निकाल लेने पर भी लेन्स पर प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। हाँ, लेन्स के विना फ़ोटू भी नहीं निकाला जा सकता। लेन्स में केवल बाहर की प्रतिमा को अन्दर के काँच तक पहुँचाने की सामर्थ्य है, इसी प्रकार शरीर में कान, आँख, नाक आदि लेन्सेज़ हैं, पुण्य और पाप के आवरण इन इन्द्रियों द्वारा भीतर रहे हुए भाव और प्राण इन दोनों सूक्ष्म तत्वों तक पहुँचते हैं। पौराणिक लोग इसे ही चित्रगुप्त कहते हैं जो देव-दूत के रूप में सब मनुष्यों के अच्छे बुरे कर्मों की नौंध रखता है। वास्तव में भाव और प्राणों पर सम्पूर्ण कर्मों के चित्र गुप्त रीति से संचित रहते हैं जो कालानुसार विभाजित (खर्च) होते ही हैं।

अन्तःकरण में रहे हुए प्राण और भाव इन दोनों द्रव्यों में मनुष्यों के या प्राणिमात्र के द्वारा चिरकाल से एकत्रित अथवा चित्रित किये गये उचित तथा अनुचित कर्मों के अनुसार योग्य शुभ या अशुभ फल निसर्ग-शक्ति दृढ़ता के साथ सभी प्राणियों को दिया करती है; कारण कि निसर्ग-शक्ति स्वतन्त्र है, इसलिये उस पर किसी का वश नही चलता; साथ ही वह अपने-आप में परिपूर्ण है, इसलिये अपने कार्यों में कभी असफल नहीं हो सकती! न्यायशील है, इसलिये कभी किसी के साथ पक्षपात नहीं

कर सकती !! और नियमित है, इसलिये निरन्तर कार्य-निरत रहती है !!!

मानव धर्म विषयक अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य, दया, क्षमा, दान, पूजा, जप और ध्यान इन दस नियमों का पालन करते समय काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करने से मनुष्य के सुख में बाधा पहुँचाने वाले दुःखावरणों की उत्पत्ति नहीं होती तथा साथ ही साथ ऊर्ध्व-भाव का विकास भी होता रहता है । इस प्रकार धीरे-धीरे लौकिक और पारलौकिक आनन्द अर्थात् सेन्द्रिय सुख और पारमार्थिक आनन्द अर्थात् अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति होती है ।

अहिंसा

संसार का प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि "उसे कोई न मारे, उसका मन कोई न दुखावे" इस पर से यह सिद्ध होता है कि अहिंसा नैसर्गिक है। संसार के प्राणिमात्र के सम्बन्ध में अपनी नैसर्गिक भावना का उपयोग करना ही मानवता का पालन है। अपनी स्वाभाविक अहिंसा के विरुद्ध लोभवश जब वह दूसरों की हिंसा करने का विचार करता है, तब उसके अन्तःकरण में से एक ध्वनि निकलती है कि "मत मार"। इस प्रकार मनुष्य जब अपनी मानवता से विमुख होता है, तब उसे स्वभाव में स्थिर रखने वाली एक नियामक शक्ति उसे रोकती है; इतने पर भी उसकी आज्ञा का उल्लङ्घन करके वह मानव प्राणियों की हिंसा में प्रवृत्त होता है।

संसार में प्रत्येक राष्ट्र की शान्ति हिंसा के द्वारा ही भङ्ग की जाती है, इसीलिये अपनी नैसर्गिक भावना के विरुद्ध व्यवहार को देख कर राष्ट्र द्वारा हिंसक मनुष्य अथवा प्राणी दण्डित किया जाता है। इस पर से यह मालूम

होता है कि हिंसा प्रत्येक राष्ट्र को अमान्य है और इसी लिये धार्मिक जगत् इसे त्याज्य समझता है ।

हिंसा करने के पहले अहिंसा का शिक्षण राष्ट्र के प्रत्येक मनुष्य को मिलने के बाद भी वह अहिंसा का पालन न करे तो ऐसे राष्ट्र बाह्य अपराधी को दण्ड देना 'राष्ट्र-धर्म' है, परन्तु आधुनिक राष्ट्र अहिंसा का शिक्षण न देकर हिंसा करने वालों को दण्ड देता है । वस्तुतः "हिंसा करने वालों को दण्ड दिया जाय" ऐसे नियम की अपेक्षा "अहिंसा पालन न करने वालों को दण्ड दिया जाय" ऐसा नियम होना अधिक योग्य है, क्यों कि 'अहिंसा पालन करना मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है" इस प्रकार का बोध तभी हो सकता है ।

यदि कोई समझता हो कि मानव अमुक पन्थ के आधार पर अहिंसा का पालन करता है, तो यह भूल है । क्या उस मत की स्थापना के पहले अहिंसा तत्व का अभाव था ? कभी नहीं । अहिंसा तत्व किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा निर्मित नहीं किया गया, यह तो प्रत्येक मनुष्य के अङ्ग में स्वाभाविक रूप से विद्यमान है ।

हाँ, अनेक मत-संस्थापक ऐसे हैं जो केवल मनुष्य मात्र के प्रति अहिंसा का व्यवहार करते हैं और अनेक मत-संस्थापक प्राणि-मात्र के प्रति अहिंसा का पालन करते हैं:

यह अपनी-अपनी योग्यता का सवाल है पर वस्तुस्थिति ऐसी है कि अहिंसा के पालन किये बिना कोई मत-पन्थ टिक नहीं सकता, इसलिये 'अहिंसा' मनुष्य धर्म का पहला नियम है! मन, वचन और काया से प्राणिमात्र के विषय में अहिंसा का पालन करना ही हमारे जीवन का ध्येय है।

"किसी को न मारना, किसी का मन न दुखाना" इस प्रकार अहिंसा तत्व का मनन करके जब हम उसे अपने जीवन में दृढ़ करते हैं तब हमें अमुक व्यक्ति या अमुक प्राणी का पक्षपात नहीं रहता। हमारी नैसर्गिक भावना में अगणित-साध्य-द्रव्य के विषय में (अखिल विश्व के लिये) योग्य काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करने से जिस 'मूल्य' का निर्माण होता है, उसके बदले श्रेष्ठ भोग प्राप्त करने के योग्य भूमिका का निर्माण करना ही मानवता का लक्षण है।

दो-तीन वर्ष का होने तक बच्चे में नैसर्गिक अहिंसा-तत्व रहता है, उसके द्वारा दूसरों को दुःख पहुँचाने जैसा कोई व्यवहार नहीं बनता; इस पर से यह सिद्ध होता है कि जन्मतः सबमें स्वाभाविक अहिंसा रहती है। ज्यों-ज्यों हमें प्रौढ़ अवस्था प्राप्त होती है त्यों-त्यों हमें उसी स्वाभाविक अहिंसा का विकास करते जाना चाहिये। मनुष्य में ही नहीं पशु में भी जन्मतः अहिंसा स्वाभाविक है। जब

हम पशु को मारने के लिये उसका पीछा करने लगते हैं तब वह भाग निकलता है, वनराज व्याघ्र की भी यही स्थिति होती है, वह भी डर के मारे छिप कर बैठा रहता है। पक्षी भी मनुष्य की अथवा अन्य हिंसक जन्तु की ध्वनि सुनते ही मरने के डर से उड़ जाते हैं; इस पर से कल्पना उठती है कि सबके भीतर कम से कम स्व-संरक्षण की दृष्टि से तो अहिंसा स्वाभाविक ही है।

यदि अन्याय से अपने को कोई त्रास देता है तो उसका योग्य प्रतीकार करके अपना संरक्षण करना भी अहिंसा का अङ्ग है कारण कि प्रत्येक मनुष्य का शरीर माता-पिता से उत्पन्न हुआ है इसलिये उस पर उनका स्वामित्व है, आचार्य ज्ञान--दान देकर हमें सन्मार्ग पर लाते हैं इसलिये उनका भी स्वामित्व है और यह शरीर राष्ट्र का एक अंश होने से उस पर राष्ट्र का भी स्वामित्व है, इसलिये इस मनुष्य शरीर पर अन्याय पूर्वक कोई आक्रमण करे तो उसका योग्य प्रतीकार करके अपना संरक्षण करना यह भी अहिंसा का ही अङ्ग है। स्वार्थ के वश में होकर कोई अन्यायी व्यक्ति इस शरीर को त्रास दे और हम उसे रो--रोकर भोगें या मरण आने दें तो यह माता, पिता, आचार्य्य और राष्ट्र का द्रोह है। अन्याय पूर्वक दूसरों को त्रास देने वाले अपराधियों को अगर योग्य दण्ड न दिया जायगा तो

उनका स्वभाव ही ऐसा बन जायगा, इसलिये यदि उन के मन की हिंसा वृत्ति का नाश करना हो और उनकी हिंसक वृत्ति से होने वाले दूसरों के सङ्कट को दूर करना हो तो ऐसे अपराधियों को दण्ड देना न्याय ही है। अपने और पराये संरक्षण के लिये अपराधियों को दण्ड देना अहिंसा का अङ्ग होने पर भी निरपराधी पशु-पक्षियों को मारना भी निश्चित रूप से हिंसा है। क्यों कि पशु पक्षियों को न मारने का उपदेश उन प्राणियों के उपकार के लिये नहीं अथवा उन पर दया करने की दृष्टि से भी नहीं किया जाता; पशु-पक्षियों के वध का निषेध अपने ही उपकार के लिये किया जाता है। जब एक हिंसक मनुष्य पशु-पक्षियों का वध करता है तब उसके प्राण और भाव तत्त्व पर उन प्राणियों के सङ्कटमय दृश्य आवरण रूप से चित्रित हो जाते हैं और जन्मान्तर में उसका फल दुःख-मय दुर्भोग प्राप्त होता है। उस दुःख से बचने के लिये ही हिंसा का त्याग किया जाता है। जिसके मन में हिंसा की वृत्ति पहिले निर्मित होती है, उसी पर इस भयंकर अपराध का आरोप आता है।

उदाहरणार्थः— एक मनुष्य शान्ति से बैठा हुआ है और दूसरा उसे मारने के लिए प्रवृत्त हुआ है, उस समय वह संरक्षण रूप अहिंसा को टिकाने के लिये ही प्रतीकार के

लिये प्रवृत्त होता है । यहाँ प्रथम जिसके हृदय में हिंसा की वृत्ति जाग्रत हुई, उसकी भूल का ही यह परिणाम है कि दूसरे व्यक्ति के मन में प्रतीकार की वृत्ति पैदा हो गई, इसलिये प्रतीकार करते समय यद्यपि दुःख की तरङ्गें प्राण और भाव-तत्त्व तक पहुँचती हैं, तथापि स्वसंरक्षण रूप अधिकार के लिये उनका उपयोग होने से वे दुःख की उत्पत्ति नहीं कर सकते ।

हाँ, मनुष्य अपनी रसनेन्द्रिय की तृप्ति के लिये यदि पशु पक्षी के मारने में प्रवृत्त होता है, तो उस समय दोनों के हृदय में आनन्द को नाश करने वाले दुःख की तरङ्गें उत्पन्न होती हैं जो हिंसक के प्राण और भाव-तत्त्वों पर आवरण रूप से संचित हो जाती हैं । वे दुःख की तरङ्गें ही जन्मान्तर में दुर्भोग उत्पन्न करने वाली होती हैं । इसलिए पशु-पक्षियों का वध भी अहिंसा का विरोधी होने से महान् अपराध है ।

सुभोग और दुर्भोग परिमित (गणित) द्रव्य होने से उनके मूल्य का विकास होकर सुख दुःख रूप से उसके मूल्य का परिणाम पैदा होने ही वाला है । मनुष्य प्राणी के द्वारा जो हिंसा होती है, वह प्रायः मनुष्य व पशु-पक्षी की ही होती है और मनुष्य तथा पशु-पक्षी परिमित (गणित) साध्य द्रव्य होने से अनैसर्गिक भावना में काल, कर्म और

ज्ञान रूप साधन द्रव्यों का उपयोग होता है, इसीलिये हिंसा दुर्भोग का निर्माण करती है ।

पशु-पक्षियों को आत्म-संरक्षण के लिए अहिंसा का अनुभव है परन्तु उनके मन और बुद्धि में मन्द चैतन्य होने से दूसरे प्राणी की हिंसा न करना ऐसी प्रवृत्ति अल्प उत्पन्न होती है, इसीलिये पशु-पक्षियों के द्वारा की हुई हिंसा का चित्र उनके प्राण और भाव--तत्व पर बहुत ही कम पड़ता है ।

उदाहरणार्थः— जब एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का वध करता है तो उसके अपराध के बदले 'मुझे दण्ड भोगना पड़ेगा' इस डर से छिप कर बैठता है और पशु–पक्षी ऐसा नहीं करते, क्यों कि उन्हें दूसरों को मारने के अप-राध की जानकारी ही नहीं होती । उनके दाँत, नख और सींग उनकी नैसर्गिक हिंसावृत्ति को ही प्रमाणित करते हैं।

मनुष्य को जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं का अनुभव होता है । जागृत अवस्था में ऊर्ध्वभाव और अनैसर्गिक भाव प्रकट होने से उनमें सुभोग उत्पादन और दुर्भोग उत्पादन का सामर्थ्य है और अधोभाव के कारण भोग विभाजन होता है । स्वप्न और सुषुप्ति इन दोनों अवस्थाओं में अधोभाव प्रकट होने से केवल भोग विभाजन ही होता है । पशु--पक्षियों की जागृत अवस्था मन्द होने

से उन में ऊर्ध्व भाव और अनैसर्गिक भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। पशु-पक्षियों में केवल स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था की ही प्रमुखता होने से जो उन्हें सुख दुःख का अनुभव होना है, वह अधोभाव के द्वारा प्रकट होने से केवल भोग विभाजक होता है।

स्वप्न में हिंसादिक दुराचार या अन्नदानादिक सदाचार संभव होने पर भी उन कर्मों से अन्य जीवों को सुख या दुःख कुछ नहीं होता क्योंकि उस काल में केवल कल्पना सृष्टि का व्यवहार चलता है, इस लिए काल, कर्म और ज्ञान रूप साधन-द्रव्यों का उपयोग केवल वृत्ति रूपी साध्य द्रव्य पर ही संस्कार करता है। इस लिये काल, कर्म और ज्ञान रूप मूल्य के बदले प्रत्यक्ष सुख दुःख प्राप्त न होकर वृत्ति-रूप से भोग विभाजन होता है। पशुओं को जागृतावस्था प्रमुख न होने से नवीन भोगोत्पादक-कर्म उनके द्वारा संभव नहीं इस लिए उन में केवल भोग विभाजन ही होता है।

देवताओं के नाम से पशु की बलि देने वाला महा मूर्ख है, क्यों कि देवता नित्य तृप्त हैं। जो लोग दूसरे प्राणियों का वध करके उन्हें संतुष्ट करना चाहते हैं और समझते हैं कि जिन का वध किया जाता है, उनका कल्याण हो जाता है; उन्होंने ने अपने प्रेम-पात्र पत्नी पुत्रादि का बलि-दान तो कभी नहीं किया ? पशु पक्षी भी नैसर्गिक शक्ति

के आधार से जीते हैं, इसलिये उनकी हिंसा करना अनैसर्गिक है। यह निश्चित है कि इससे निसर्ग शक्ति का प्रकोप अवश्य होगा। मनुष्य अपने शरीर के संरक्षण के लिये मांस खाता है परन्तु यह कृत्य उसके लिये स्वाभाविक नहीं माना जा सकता, क्यों कि यदि वह जरा भी शाकाहार न करे और मांस ही खा कर रहे यह असंभव है; पर जरा भी मांसाहार न करे और केवल शाकाहार पर रहे तो वह जन्म भर आनन्द के साथ जी सकता है। धान्य के दुष्काल से मनुष्य मृत्यु के मुख में पड़ जाता है पर मांसाहार के अभाव से वह मृत्यु-मुख में कभी नहीं पड़ा। इसलिये यह सिद्ध होता है कि मांसाहार मनुष्य के जीवन के लिये जरूरी नहीं है। वह केवल अनैसर्गिक व्यसन मात्र है।

मनुष्य अपने ज्ञान और कर्तृत्व-शक्ति से धन, धान्य और फल-फूलों का उत्पादन कर सकता है, इसीलिये वह प्राकृतिक नियम के अनुसार ही वनस्पति का आहार करने का अधिकारी है; परन्तु मनुष्य के द्वारा पशु-पक्षी उत्पन्न नहीं किये जा सकते, इसलिये उनको मार कर खाना यह अनधिकार चेष्टा है। प्रकृति के द्वारा निर्माण किये गये पशु-पक्षियों का संरक्षण करके मनुष्य उनके द्वारा प्राप्त की हुई वस्तुओं को काम में लाने का हक़दार है। आधुनिक राष्ट्र मानव-समाज के संरक्षण तक ही अहिंसा का पालन

करता है वस्तुस्थिति का विचार करने से पशु-पक्षियों के सम्बन्ध में भी राष्ट्र को अहिंसा तत्व का पालन करना चाहिये। भारत राष्ट्र कृषि--प्रधान देश है और खेती करना धन का उत्पादक होने से उसके लिये पशु-पक्षियों की आवश्यकता है। मनुष्य समाज को अन्न वस्त्रों का उत्पादन करने में सहायता देने वाले पशु-पक्षियों का वध करने से या उनके विषय में अहिंसा का पालन न करने से राष्ट्र सम्पत्ति का नाश होता है। इसलिये राष्ट्र के नियंत्रण से पशु-वध को बन्द करना चाहिये।

मनुष्य को गाढ़ी निद्रा आने पर मन की शक्ति सुप्त अवस्था में रहती है, उस समय सुख दुःख ग्रहण करने की पात्रता नहीं होती; केवल शरीर संरक्षण के लिये आवश्यक श्वासोच्छ्वास चालू रहता है और जठराग्नि अन्न-पाचन का काम करती है, इसलिये उस समय मनुष्य के भीतर भाव और प्राण-तत्व नहीं होते यह न समझना चाहिये। उस समय सुख दुःख का अनुभव लेने वाला भाव तत्व प्रकट न होने से गाढ़ सुषुप्ति अवस्था रहती है, इसीलिये सुख-दुःख अनुभव में नहीं आते। उसी प्रकार वनस्पति के अन्दर गाढ़ सुषुप्ति अवस्था का प्राधान्य होने से सुख दुःख अत्यन्त मन्द होते हैं। उनमें केवल पृथ्वी से जड़ों द्वारा आहार लेना, पत्रों द्वारा वायु लेना आदि

जीवन संरक्षण के योग्य स्वाभाविक शक्ति रहती है, इसी कारण वनस्पति बढ़ कर फलप्रदा होती है। वनस्पति का उपयोग करने में उसको तोड़ते समय यद्यपि मन्द रूप से मन में दुःख होता है तथापि वनस्पति में होने वाली दुःख तरङ्गें मनुष्य के प्राण और भाव तत्वों तक गमनशील न होने से उनका आवरण रूप से संचय नहीं हो सकता; इसलिये वनस्पति का आहार करने वाला हिंसक नहीं कहलाता।

संसार के समस्त प्राणियों का संरक्षण करने के लिये नैसर्गिक शक्ति निरन्तर अहिंसा तत्व का ही उपयोग करती है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वर्षादिकाल, सूर्य चन्द्रादि गोल इत्यादि सभी हमारे साथ संरक्षक रूप से सम्बद्ध हैं। इस पर से यह सिद्ध होता है कि निसर्ग शक्ति में संरक्षणात्मक अहिंसातत्व कूट-कूट कर भरा है। हो सकता है कि स्वाभाविक अहिंसा के विरुद्ध आहार करने वाला कोई व्यक्ति राजदण्ड से बच भी जाय, पर निसर्ग के दण्ड से कोई कभी बच नहीं सकता! बहु सहकर्मी जीवों को सन्मार्ग पर लगाने के लिये निसर्ग शक्ति कुपित होकर प्राकृतिक तत्वों में न्यूनाधिक विकार उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार अन्न वस्त्र के अभाव से पीड़ित करके निसर्ग शक्ति ही उसको प्रायश्चित्त देती है।

सारांश यह है कि अहिंसा तत्व में अगणि-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान रूप साधन द्रव्य का उपयोग करने से दुर्भोग अवस्था में न पटक कर सुभोग प्राप्त करने के काम में योग्य पात्रता बनाने वाली मानवता प्राप्त होती है।

अहिंसा तत्व का पालन करते समय गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान रूप साधन द्रव्यों (मूल्य) का उपयोग करने से सुभोग उत्पन्न होता है।

हिंसा करते समय अनैसर्गिक भावना में गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान रूप साधन द्रव्यों का उपयोग होने से दुःख का उत्पादन होता है।

सत्य

संसार में प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि 'अपने से कोई झूँठ न बोले, सत्य का व्यवहार करें' इस पर से यह अनुभव में आता है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने लिये सत्य बोलना स्वाभाविक प्रतीत होता है। अपने नैसर्गिक सत्य का उपयोग सम्पूर्ण विश्व-मानव के लिये करना ही मानवता का लक्षण है। सत्य नियम का पालन करना अथवा नहीं करना यह विषय केवल मनुष्यों को लक्ष्य में रख कर ही स्पष्ट किया गया है, क्यों कि पशु-पक्षी आदि प्राणियों को भाषण करनेवाली इन्द्रिय बलवान न होने से 'वे सत्य बोलेंगे या असत्य' इस बात की अपेक्षा करना अनावश्यक है। क्यों कि सत्य मनुष्य का स्वाभाविक धर्म होने से मनुष्य लोभवश जब दूसरों के साथ असत्य भाषण करने का विचार मन में करता है, तब उस के चित्त में से ऐसा संदेश आता है कि "झूँठ न बोलो" इस पर से मनुष्य को अपनी आन्तरिक शक्ति से एक प्रेरणा मिलती है कि वह मनुष्यता के विरुद्ध आचरण न करे! मनुष्य उस अन्तःशक्ति की आज्ञा का उल्लंघन करके राष्ट्र के व्यक्तियों

के प्रति असत्य बोलता है, उस असत्य बोलने वाले का नियन्त्रण राष्ट्र के हाथ में है। असत्य सत्य के विरुद्ध है, सत्य के विपर्यास को दण्डनीय समझना राष्ट्र का नियम है परन्तु सत्य पालन न करनेवाले को दण्ड देने से ही सत्य के पालन करने में मनुष्य-कर्तव्य का बोध होता है और असत्यता अपने आप नष्ट हो जाती है। इस लिये राष्ट्र की ओर से सत्य नियम का शिक्षण प्रजा को दिलवाना चाहिये।

असत्य का व्यवहार करनेवाले को राष्ट्र की ओर से दण्ड मिलता है, पर सत्य पालन करनेवाले को उसका बदला राष्ट्र नहीं देता, क्यों कि सत्य बोलना मनुष्य का कर्तव्य है। कर्तव्य का मूल्य अपरिमित होने से संसार में कर्तव्य शील मनुष्य की मान्यता होती है। मनुष्य के पास ओज रूप शक्ति कम होने से वह असत्य भाषण करता है। असत्य भाषण से तात्कालिक लाभ होने पर भी अपने विषय में सत्य का वर्तन करने वाले व्यक्ति के सम्बन्ध में असत्य व्यवहार करने से विश्वास रूपी अमूल्य सम्पत्ति नष्ट हो जाती है। जड़ वस्तु के संस्कार से मनुष्य की भावना जड़ बन जाती है और वह सत्य से मुंह मोड़ लेता है। सत्य और असत्य का निर्णय, काल और परिस्थिति को देख कर करना चाहिये; जिस भाषण से दूसरों की हानि होकर परिणाम में दुःख उत्पन्न होता है, वही असत्य है

और जिस भाषण से न तो दूसरों का अहित हो और न अपना, वही सत्य है।

किसी ने पूछा तुम्हारे घर पर कितनी सम्पत्ति है और वह तुम कहाँ रखते हो ? वह सम्पत्ति जहां पर हो वहीं पर बता देने से उस सम्पत्ति के विषय में उसे अनैसर्गिक लोभ पैदा होता है और वह उसे चुराने का प्रयत्न करके मानवता से च्युत हो जाता है। इस कारण से परिश्रम के साथ कमाये हुए अपने धन के संरक्षण की दृष्टि से वस्तु स्थिति न बतलाना ही सत्य है। सत्य का ठीक-ठीक पालन करने के लिये पहिले पहिले काफी कठिनाइयां आती हैं। हमें यह जानना चाहिये कि सत्य की मर्यादा विशाल है। सत्य प्रतिज्ञ महान् व्यक्ति की इच्छा के लिये अपने जीवन को समर्पण करना धन्यता की निशानी है।

सत्य के अभाव में अपना जीवन चलाने वाला एक भी मनुष्य संसार में नहीं मिल सकता। कोई व्यक्ति दुनियां के साथ असत्य का वर्तन करके अपनी आजीविका चलाता है तो भी उसका विश्वास-पात्र कोई न कोई व्यक्ति ऐसा होता ही है, जिसके साथ उसे सत्य भाषण करना पड़ता है। फिर चाहे वह पति हो, पत्नी हो, बन्धु हो या मित्र हो। यदि वह उनके साथ भी सत्य का व्यवहार न करेगा, तो उसका जीवन संरक्षण असम्भव हो जायगा;

इस पर से यह सिद्ध होता है कि सत्य के अभाव में मानवीय जीवन टिक नहीं सकता ।

अपने नैसर्गिक और एकदेशीय सत्य के ज्ञान को विकसित करके अखिल विश्व के मनुष्यों से सत्य भाषण और व्यवहार करना ही मानव जीवन की सम्पन्नता है । अपने जीवन चरित्र की जो अच्छी अच्छी बातें हैं उन्हें दूसरों को बताने के लिये मनुष्य उत्सुक रहता है और दोष को ढाँकने का प्रयत्न करता है परन्तु जिसने अपना अपराध छिपाया, उसने सत्य नियम का अधूरा ही पालन किया है । शरीर संरक्षण के लिये कुछ भी कर्तव्य बाकी नहीं, क्यों कि पूर्व जन्म के उत्पादक कर्मानुसार मनुष्य को भोग प्राप्त होते ही रहते हैं, सिर्फ़ उस की अधोभावना में काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करने की प्रेरणा बची रहती है ।

जन्म लेने के पहले ही जीवन संरक्षण के लिये माता के स्तनों में दूध आजाता है और जन्मते ही वह प्राणी स्तन पान का शिक्षण न मिलने पर भी दूध पीने लग जाता है, इस पर से यह सिद्ध होता है कि आत्म संरक्षण का उत्तरदायित्व भी नैसर्गिक शक्ति के आधीन है, फिर मालूम नहीं होता कि हम यह समझ बूझ कर भी असत्य का वर्तन क्यों करने लगते हैं ? अपने नैसर्गिक और एकदेशीय

सत्य का अखिल विश्व के साथ विकास करने के लिये काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग अगणित-साध्य-द्रव्य पर होने से दुर्भोग प्राप्त न हो कर सुभोग प्राप्त करने योग्य पात्रता का निर्माण करनेवाली मानवता उत्पन्न होती है। किसी मनुष्य ने अन्याय का व्यवहार किया, हमने सत्य भाषण द्वारा उस की भूल बता कर अगर उसे सन्मार्ग पर लगा दिया तो वह व्यक्ति गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान रूप मूल्य का उपयोग ऊर्ध्व भावना में करने से सुभोग का उत्पादक बनता है। यहाँ पर हमें यह भी समझ लेना आवश्यक है कि जब तक हमारी नैसर्गिक-भावना के प्रतिकूल किये गये असत्य व्यवहार का प्रभाव सामने वाले व्यक्ति (जिसके प्रति हम असत्य भाषण करते हैं) के अन्तःकरण में दुःख की तरंगें उत्पन्न नहीं करता, तब तक हमें असत्य भाषण का दुष्फल भी नहीं मिल सकता।

उदाहरणार्थः— किसी अफ़ीमची या शराबी मनुष्य को हमने झूठ-मूठ ही कह डाला कि 'तुम्हारे माता--पिता का देहान्त हो गया' किन्तु हमारे इस कथन से उसे किसी प्रकार का दुःख नहीं हुआ! तो हमें (जिन्होंने असत्य भाषण किया है) उस असत्य भाषण का कोई दुष्फल नहीं मिलेगा! कारण कि हमारे असत्य भाषण से उसके (शराब या अफीम के कारण अपना भान भूले हुए मनुष्य

के) हृदय में दुःख की तरंगें उत्पन्न ही नहीं हुई ! और जब उसके हृदय में दुःख की तरंगें उत्पन्न ही नहीं हुई, तो उनका प्रतिबिम्ब या चित्र हमारे भाव और प्राणों पर कैसे अङ्कित होगा ? और जब तक हमारे भाव और प्राणतत्वों पर दुःख-तरंगों का चित्र ही अङ्कित नहीं होता, तब तक हमें कालान्तर या जन्मान्तर में उनका दुष्फल भो कैसे प्राप्त होगा ?

इस पर से यह सिद्ध होता है कि अपनी नैसर्गिक शक्ति के विरुद्ध अन्य व्यक्ति के साथ असत्य का आचरण करने से उसके मन में यदि दुःख की तरंगें उठती हैं; तो वे तरंगें असत्य भाषण करने वाले व्यक्ति के प्राण और भाव तत्व में प्रवेश करती हैं, तभी वह व्यक्ति गणित-साध्य-द्रव्य से अनैसर्गिक भावना में असत्य काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करने से दुःख का उत्पादक बन जाता है ।

आज सूर्योदय होगा कि नहीं ? इस वर्ष वर्षा, ग्रीष्म, शिशिर, वसन्तादि ऋतुएँ प्राप्त होंगी कि नहीं ? प्रकृति के सम्बन्ध में ऐसी शङ्का किसी के मन को स्पर्श नहीं करती । इस पर से यह सिद्ध होता है कि नैसर्गिक शक्ति सब प्राणियों के विषय में सत्य का पालन करती है ।

यदि हम चाहते हैं कि हमारा जीवन राष्ट्र में संतोष-मय, शान्तिमय तथा सुखमय व्यतीत हो तो हमारा यह

कर्त्तव्य हो जाता है कि हम अपनी नैसर्गिक शक्ति की आज्ञा का उल्लंघन न करते हुए अखिल विश्व के साथ सदा सत्य का ही व्यवहार करते रहें ! तभी सुख, संतोष और शान्ति का हमारे जीवन में उदय हो सकता है। इसी से मानवता का संरक्षण हो सकता है! और इसी लिये यह मनुष्यों का प्रधान तथा प्रथम कर्त्तव्य माना गया है ।

अपने लिये अस्वाभाविक मालूम होने वाले असत्य का दूसरों के विषय में उपयोग करने से मनुष्य अपनी मानवता को नष्ट कर देता है; इसी लिये तो राष्ट्र की दृष्टि से वह अपराधी समझा जाता है। जो मनुष्य असत्य का वर्तन करके भी राजदण्ड की कक्षा से छूट गये हैं, ऐसे बहु महकर्मी जीवों को रोगादिक रूप से तथा अन्न वस्त्रादिक के अभाव से पीड़ित करके सन्मार्ग पर चलाने के हेतु से निसर्ग शक्ति क्षुब्ध होती है और उनके मन को प्रायश्चित्त देती है, इसलिये मनुष्य का कर्त्तव्य है कि नैसर्गिक शक्ति से एकनिष्ठ रह कर आजन्म मानवता का पालन करता रहे।

सारांश यह है कि सत्य नियम का पालन करते समय अगणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी नैसर्गिक भावना में काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग होता है, इसलिये दुःखोत्पादन न

करके सुभोग प्राप्त करने के योग्य पात्रता देने वाली मान-वता का निर्माण होता है ।

सत्य नियम का पालन करते समय गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी ऊर्ध्व भावना में काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग होता है, इसलिये वह सुभोगोत्पादक है ।

असत्य का उपयोग करते समय अनैसर्गिक भावना में गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग होता है, इसलिये वह दुःखोत्पादक है ।

अस्तेय

संसार के प्रत्येक मनुष्य को ऐसा लगता है कि अपनी वस्तु कोई चोरे नहीं, इस पर से यह सिद्ध होता है कि अस्तेय नैसर्गिक नियम है। 'दूसरों की चोरी करना' ऐसा विचार मन में आते ही "चोरी करना बुरा है" ऐसा एक सन्देश अन्तःकरण में से आता है।

लोभ वश होकर मनुष्य इस आन्तरिक-सन्देश की आज्ञा का उल्लंघन करके दूसरों की वस्तु चुराता है। यह वस्तु राष्ट्र की अंशभूत सम्पत्ति होने से चोरी करनेवाले को राष्ट्र शक्ति दराड देती है, क्यों कि चोरी करने से राष्ट्र की शान्ति में बाधा पड़ती है इस लिये यह राष्ट्र को मान्य नहीं। चोरी करने वाला मनुष्य अपनी नैसर्गिक भावना के विरुद्ध व्यवहार करके मानवता के कर्तव्य से विमुख होता है। इस प्रकार वह अपने आप राष्ट्र-बाह्य हो कर राष्ट्र द्वारा दराडनीय होता है।

चोरी करने के पहिले चोरी न करने का शिक्षण प्रजा को देना राष्ट्र का कर्तव्य है। अस्तेय नियम का शिक्षण

प्रजा को प्रथम न दे कर चोरी करते ही उसे राष्ट्र दण्ड देता है, क्यों कि राष्ट्र का नियम है, चोरी करने वाले को दण्ड देना, परन्तु चोरी करना यह मूल नियम नहीं, अस्तेय का विपर्यास मात्र है। वस्तुतः राष्ट्र का नियम ऐसा होना चाहिये कि अस्तेय नियम का पालन न करने वाले को दण्ड मिलेगा, जिस से 'अस्तेय नियम पालन करना चाहिये' ऐसा बोध होता रहे। चोरी करने वाले को राष्ट्र दण्ड देता है, परन्तु चोरी न करने वाले को कुछ भी नहीं मिलता; इससे मालूम होता है कि अस्तेय पालन करना मनुष्य का कर्तव्य है! और कर्तव्य अपरिमित मूल्यवान होने से अस्तेय पालन करने वाले व्यक्तियों का राष्ट्र पूजा करता है।

मनुष्य में ओज शक्ति कम होने से वह चोरी करता है और इस तरह उस की भावना जड़ बनकर वह अस्तेय नियम से विमुख होता है। अस्तेय तत्त्व के विना मनुष्य का जीवन व्यवहार नहीं चलता, चोरी करके अपना जीवन व्यवहार चलाने वाला मनुष्य भी अपने कुटुम्बियों अथवा मित्रों के साथ तो अस्तेय नियम का पालन करता ही है, अगर उनके साथ भी वह इस नियम का पालन नहीं करता तो उस के जीवन संरक्षण का उपाय ही कुण्ठित समझिये। इस पर से यह सिद्ध होता है कि अस्तेय नियम के बिना मानवीय जीवन का अस्तित्व असम्भव है।

चोर जब चोरी करता है तब सम्पत्ति का स्वामी प्रत्यक्ष नहीं रहता, "अमुक व्यक्ति ने अपनी सम्पत्ति चोरी है" ऐसा उस को पता नहीं रहता, तो फिर सम्पत्ति के वियोग से होने वाली दुःख तरङ्गें चोर के प्राण और भाव तत्वों तक कैसे पहुँचती हैं ? ऐसी शङ्का उत्पन्न हो सकती है।

चोरी के द्वारा मिली हुई सम्पत्ति से चोर आनन्दित होता है और सम्पत्ति का स्वामी दुखी । इस आनन्द और दुःख के भिन्न भिन्न संस्कार मन पर डालने वाली सम्पत्ति ही मध्य विन्दु है । सम्पत्ति के स्वामी के हृदय में दुःख की तरङ्गें और चोर के अन्तःकरण में आनन्द की तरङ्गें होने से सम्पत्ति रूपी मध्य बिन्दु पर ये दोनों तरङ्गें परस्पर टक्कर मारती हैं उन में से सम्पत्ति के स्वामी को होने वाली दुःख तरंगें चोर के प्राण और भाव तत्व में प्रवेश करती हैं और वहाँ आवरण रूप से संचित हो कर योग्य समय पर दुःख का उत्पन्न करती हैं । चोर के हृदय में उठने वाली आनन्द तरंगें सम्पत्ति के स्वामी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखती केवल उनका सम्बन्ध सम्पत्ति के साथ ही रहता है, इस लिये वे उसके भाव तत्व तक नहीं पहुँच सकती । चोरी अनैसर्गिक भावना में गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करने से दुःखोत्पादन का करती है ।

नैसर्गिक भावना में अस्तेय नियम का विकास करके अखिल विश्व के साथ अस्तेय नियम का पालन करने से अगणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग होता है; इस लिये दुःख का उत्पादन न होकर सुभोग प्राप्त करने योग्य पात्रता देने वाली मानवता का निर्माण होता है।

सब प्राणियों का संरक्षण करने के लिये पृथ्वी आदि पंच--तत्व, वसन्तादि ऋतु, वर्षादि काल का उपयोग निसर्ग शक्ति के द्वारा अस्तेय नियम से ही किया जाता है।

जीव का शरीर और उस से सम्बन्ध रखने वाले पुत्र, दारा, सम्पत्ति आदि का भोग बिना सूचना के ही प्रकृति हम से छीन ले जाती है जिससे जीव को अचानक दुःख मिलता है, इस पर से निसर्ग शक्ति पर चोरी का आरोप आता है। ऐसी शङ्का उत्पन्न हो सकती है परन्तु क्या कभी चोर का ऐसा हेतु होता है कि जिसकी सम्पत्ति हम चोर कर लाये उस के बदले में वापस कुछ दिया जाय। चोर तो उस सम्पत्ति को सदा के लिये चुरा ले जाता है परन्तु निसर्ग की तरफ़ से जो भोग द्रव्य बिना सूचित किये हुए लेजाये जाते हैं, उन के बदले में अपने-अपने अधिकार के अनुसार योग्य समय पर पुनः प्राप्त होते हैं। यह निसर्ग धर्म की चोरी न हो कर विश्व की सुव्यवस्था है।

प्रत्येक मनुष्य को नैसर्गिक अस्तेय नियम का पालन कर के अखिल विश्व की वस्तुओं के सम्बन्ध में इस विकसित

करना चाहिये, तभी राष्ट्र में शान्ति का संचार होगा और इच्छित सुख प्राप्ति के लिये योग्य भूमिका का निर्माण होगा। जो मनुष्य नैसर्गिक अस्तेय नियम का पालन न करते हुए भी राज्यदण्ड से बच गये हैं; ऐसे बहु सहकर्मी जीवों को सन्मार्ग पर लगाने के लिये रोगादि रूप से या अन्न वस्त्रादि के अभाव रूप से पीड़ित कर के निसर्ग--शक्ति उन से पश्चात्ताप करवाती है; इस लिये मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अस्तेय नियम का पालन करे।

अस्तेय का अर्थ है चोरी नहीं करना; क्यों कि चोरी मानव स्वभाव के प्रतिकूल होने से सर्वथा त्याज्य मानी जाती है। यहाँ पर एक शङ्का उठाई जा सकती है कि 'चोर' अत्यन्त सावधानी से चोरी करने में अपनी हिम्मत और बहादुरी समझता है, चोरी से प्राप्त सम्पत्ति का उपभोग कर के प्रसन्न भी होता है और कम से कम परिश्रम में अधिक से अधिक धन प्राप्त करने में ही अपनी कार्य--कुशलता और बुद्धिमत्ता भी समझता है! इस प्रकार 'चोर' चोरी को अपने स्वभाव के अनुकूल ही समझता है, तब आप का उपर्युक्त कथन कहाँ तक सङ्गत है कि "चोरी मानव-स्वभाव के प्रतिकूल होने से......" जब कि "चोर" भी "मानव" ही है!

इस का सीधा समाधान यह है कि 'चोर' चोरी करना पसंद करता है, चोरी सहना नहीं! यदि लूटी हुई

अथवा चोरी से प्राप्त कर के एकत्रित की हुई सम्पत्ति को चोरों के घर से कोई अन्य चोर आकर चुरा ले जायँ तो उन्हें भी उतना ही दुःख होगा, जितना एक श्रीमन्त को होता है ! इस पर से यह सिद्ध होता है कि चोरी मानव स्वभाव के प्रतिकूल होने से सर्वथा त्याज्य है, इस लिये हमें चोरी न करते हुए अपने नैसर्गिक अस्तेय नियम का जीवन पर्यन्त पालन करते रहना चाहिये, जिस से कि मानवता का रक्षण किया जा सके ।

सारांश यह है कि अस्तेय नियम का पालन करते समय नैसर्गिक भावना में अगणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग होने से सुभोग प्राप्त करने योग्य पात्रता का निर्माण होता है ।

चोरी करना, यह अनैसर्गिक-भावना में गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग होने से दुर्भोग का उत्पादक बन जाता है ।

ब्रह्मचर्य

इस संसार का प्रत्येक पुरुष चाहता है कि 'मेरी पत्नी पर-पुरुष गमन न करे' ठीक इसी प्रकार प्रत्येक स्त्री भी यही चाहती है कि 'मेरा पति पर-स्त्री गमन न करे' इस पर से यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक स्त्री पुरुष में कम से कम अपने लिये तो ब्रह्मचर्य्य का भाव स्वाभाविक है ही।

मनुष्य को अपने नैसर्गिक ब्रह्मचर्य्य का विकास कर के अखिल विश्व के मनुष्यों के विषय में ब्रह्मचारी रहना ही मानव जीवन की सम्पन्नता है, क्यों कि ब्रह्मचर्य्य नियम का पालन करना मनुष्य की विशेषता है। ब्रह्मचर्य्य मनुष्य का स्वभाव होने से जब वह लोभवश व्यभिचार में प्रवृत्त होता है, तब उसके चित्त में से ऐसा सन्देश आता है कि 'व्यभिचार नहीं करना चाहिये' इतने पर भी मनुष्य जब अपनी मानवता से विमुख होने लगता है अर्थात् उससे बचाने वाली एक विशिष्ट शक्ति के नियमन करने पर भी जब राष्ट्र के स्त्री-पुरुष व्यभिचार करते हैं तब वे राष्ट्र के अंशीभूत घटक होने से राष्ट्र द्वारा दण्डित किये जाते हैं।

व्यभिचार करने वाले को दण्ड होगा ऐसा राष्ट्र का नियम है परन्तु व्यभिचार तो मूल ब्रह्मचर्य्य का विपर्यास है। ब्रह्मचर्य के विपर्यास को दण्डित करने वाले राष्ट्र-नियम को स्वीकार करने से ब्रह्मचर्य्य पालन करने के कर्त्तव्य का बोध नहीं होता इस लिये व्यभिचार करने वाले को दण्डित किया जायगा ऐसे राष्ट्र के नियम की अपेक्षा "ब्रह्मचर्य्य" का पालन न करने वाले को दण्डित किया जायगा ऐसा नियम बनाना अधिक उपयुक्त है और उसी नियम के अनुसार राष्ट्र की ओर से "ब्रह्मचर्य्य" का जनता को शिक्षण मिलना चाहिये।

व्यभिचार करने वाले को तो राष्ट्र की ओर से दण्डित किया जाता है परन्तु ब्रह्मचर्य्य पालन करने वाले को कुछ नहीं मिलता; इस पर से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मचर्य्य पालन करना मनुष्य का स्वाभाविक कर्त्तव्य है, और कर्त्तव्य अपरिमित मूल्यवान होने से कर्त्तव्यशील मनुष्य को आदर सत्कार मिलता है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है "ब्रह्म" के प्रति चलना अर्थात् परमात्मा की ओर जाना। इस अखिल चराचर विश्व का जिस से समुद्भव हुआ, जिस (वस्तु) में यह विश्व अभी विद्यमान है तथा अपने अन्तिम समय में जिस (वस्तु) में इसे (विश्व को) विलीन होना है, उसी मूल वस्तु को

को "ब्रह्म" कहते हैं। ब्रह्म की ओर जाने के लिये जीव को अपने प्राण और भाव इन दोनों द्रव्यों में रहे हुए आवरणों को नष्ट करने के लिये ज्ञान और क्रिया का उपयोग करना पड़ता है, उसी ज्ञान और क्रिया के साथ ब्रह्मचर्य्य व्रत का सम्बन्ध है।

जीव अल्पज्ञ और एकदेशीय कर्तृत्ववान होने से उस का अन्तिम साध्य सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्व शक्तिमान उस मूल परमात्मा में प्रवेश करना है।

मनुष्य अपने स्त्री, पुत्र और सम्पत्ति के साथ अधोभावना के सम्बन्ध से भोगविभाजन के काम में तत्पर होता है। अधोभावना-सम्बद्ध अनेक वस्तुओं में से स्त्री और पुरुष परस्पर विशेष रूप से निगड़ित हैं।

स्त्री--पुरुष का पारस्परिक सम्बन्ध अधोभावना का का विशेष भाजन होने से प्राण और भाव तत्वों पर प्रबल वैषयिक विकार पड़ते हैं, इसलिए उन की शुद्धि के लिये ब्रह्मचर्य्य के संस्कार और शिक्षण की अत्यन्त आवश्यकता है। आँख, कान, त्वचा, घ्राण और रसना द्वारा सुख-दुःख ग्रहण करना, मन का स्वभाव है। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जब मन विषयों को ग्रहण करता है, तब एक भोग्य वस्तु का एक ही इन्द्रिय को सुख मिलता है परन्तु स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध से तीन ज्ञानेन्द्रियों को सुख मिलता है।

उदाहरणार्थः– शक्कर रसनेन्द्रिय को ही आनन्द देने वाली है, यद्यपि हाथ से स्पर्श करना, नेत्रों से देखना आदि

क्रियाएँ भी शक्कर प्राप्त करने के लिये सहायक होती हैं, तथापि इससे स्पर्शेन्द्रिय और नेत्रेन्द्रिय को आनन्द नहीं मिल सकता।

सुगन्ध घ्राणेन्द्रिय को आनन्द देती है, हस्त, नेत्रादिक इन्द्रियाँ पुष्प ग्रहण करने में सहायक होने पर भी उन को सुगन्ध का आनन्द नहीं मिलता।

संगीत कानों को आनन्द देता है। कर्णेतर इन्द्रियों के संगीत श्रवण में सहायक होने पर भी उन को संगीत का आनन्द नहीं मिलता।

स्त्री-पुरुष जब पारस्परिक अधोभावना का उपयोग करते हैं तब रूप, रस और स्पर्श तीन ज्ञानेन्द्रियों का सुख मिलता है, क्यों कि स्त्री-पुरुष को अपना पारस्परिक रूप (सौन्दर्य) का दर्शन नेत्रों को आनन्दित करने से यह नेत्रेन्द्रिय का विषय है, इसीप्रकार चुम्बन का आनन्द रसनेन्द्रिय का विषय है और संभोग का आनन्द स्पर्शेन्द्रिय का विषय है।

तारुण्यावस्था में नैसर्गिक अधोविषय का नियन्त्रण कर के नैसर्गिक एकदेशीय मातृ-पितृ सम्बन्धी ऊर्ध्व भावना को विकसित करते हुए धीरे धीरे उसे सार्वदेशिक और व्यापक बनाते जाना ही ब्रह्मचर्य का उद्देश्य है।

स्त्रियों को अपनी पुरुष-विषयक अधोभावना से बचने के लिये पितृ-भक्ति की आवश्यकता है और पुरुषों को अपनी

स्त्री विषयक अधोभावना से बचने के लिये मातृ-भक्ति की आवश्यकता है। स्त्री के विषय में पुरुष की और पुरुष के विषय में स्त्री की पारस्परिक अधोभावना के ही फल स्वरूप स्त्री-पुरुष के रजोवीर्य का अधःपात होता है। मातृ-भक्ति और पितृ-भक्ति में रजोवीर्य ऊर्ध्वरेता बन जाते हैं, यह प्रत्यक्ष अनुभूत है। स्त्री-पुरुष का पारस्परिक सम्भोग क्षणिक आनन्द देता है, क्यों कि रजोवीर्य-वियोगानन्तर आनन्द का अभाव हो जाता है; इस पर से ऐसा अनुभव मिलता है कि स्त्री-पुरुष का पारस्परिक प्रेम अपूर्ण है।

माता-पिता पर प्रेम करते हुए चंचलता के वश मन यदि दूसरी ओर चला गया तो भी मन में भक्ति प्रकट करके मनुष्य ऊर्ध्वानन्द भोग सकता है, इस पर से यह अनुभव में आता है कि मातृ-पितृ-प्रेम अखण्ड आनन्द देने वाला है।

स्त्रीत्व-मातृत्व और पुरुषत्व-पितृत्व यह दोनों अवस्थाएँ एक ही व्यक्ति में स्वतन्त्रता से रहती हैं।

एकही स्त्री के प्रति उसका पति-पत्नित्व का व्यवहार करता है और पुत्र मातृत्व का व्यवहार करके उसे पूज्य समझता है उसी प्रकार एक पुरुष के प्रति उस की पत्नी पतित्व का व्यवहार करती है और पुत्री पितृत्व का व्यवहार करके उसे पूज्य मानती है। दो भिन्न जीव एक ही व्यक्ति के सम्बन्ध से स्त्री-सौख्य और मातृ-सौख्य तथा पुरुष सौख्य और पितृ-सौख्य प्राप्त कर सकते हैं। अनैसर्गिक भावना से स्त्री-पुरुषों में अनिर्बद्ध

विषय सेवन होने पर मानवता भ्रष्ट होकर शारीरिक सुख शान्ति का भंग न हो इसीलिये वैवाहिक व्यवस्था की स्थापना हुई।

विवाह शब्द का अर्थ विशेष रूप से वहन करके लेजाना अर्थात् स्त्री-पुरुष का पति-पत्नी बन कर विशेष बुद्धि-पूर्वक संसार का बोझा उठाना और पति-पत्नी के सिवाय सब स्त्री-पुरुषों पर मातृत्व एवम् पितृत्व की भावना रखना, यही विवाह विधि का सन्देश है। माता पिता नें जन्म दिया है और आचार्य्य ज्ञान देने वाले हैं, इन तीनों की आज्ञा से विवाह करना मानव का कर्तव्य है। स्त्री-पुरुषों के परस्पर अधिक विषयसौख्य ग्रहण करने से मन की प्रवृत्ति अधःप्रवाही हो जाती है जो कि भोग-विभाजक है। अधोवृत्ति से उत्पादक ऊर्ध्व-वृत्ति की ओर मन की प्रवृत्ति करना और ऊर्ध्ववृत्ति से निर्विकल्प बनना, जीवन का अन्तिम ध्येय है।

स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक प्रेम से प्राण और भाव तत्व अधःप्रवाही बन जाते हैं। उन सूक्ष्म तत्वों का परिणाम भौतिक तत्वों पर पड़ता है, इसी कारण स्त्री-पुरुष अधोरेता होते हैं।

जमाखर्च लिखना, वाचन करना, इत्यादिक मानसिक श्रम से वीर्य--रज ऊर्ध्व प्रवाही होकर ज्ञान तन्तु के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से खर्च होता है। उस मानसिक श्रम के योग से अन्दर का ओज कम होता है। मानसिक श्रम करने वाले

वुद्धिजीवी लोग प्रायः अशक्त होते हैं और शारीरिक श्रम से रजो-वीर्य का खर्च अल्प परिमाण में होता है इसीलिये किसान, मजदूर आदि श्रमजीवी लोग सुदृढ़ होते हैं। शारीरिक और मानसिक श्रम की अपेक्षा ध्यान, धारणादि अतीन्द्रिय अवस्था पर पहुँचाने वाले अति सूक्ष्म श्रम के लिये विशेष ऊर्ध्वरेता हुए बिना आत्मानुसन्धान साध्य नहीं होता, इसलिये ऊर्ध्वरेता होना महत्वपूर्ण है।

ब्रह्म तत्व का अनुसन्धान करने के लिये ध्यान, धारणादि आवश्यक अति सूक्ष्म मानसिक श्रम करना हो तो उसके लिये रजोवीर्य की विशेष आवश्यकता रहती है इसी लिए रजोवीर्य रक्षा को भी ब्रह्मचर्य्य कहते हैं। स्त्री-पुरुष का पारस्परिक प्रेम नैसर्गिक होने पर भी अधोभाव परिमित होना चाहिये। विषय सुख को अन्तिम ध्येय न मान कर उस प्रेम का उपयोग भी उत्तम सन्तान निर्माण करने के लिये ही करना चाहिये।

उत्तम सन्तान निर्माण करने से गृहस्थ माता पिता के ऋण से मुक्त होता है और श्रेष्ठ ज्ञान को धारण करने योग्य पात्र बना देने से गृहस्थ आचार्य के ऋण से मुक्त होता है।

मानवेतर पशु-पक्षी की योनि में कर्तृत्वशक्ति जागृत न होने से अन्तिम साध्य प्राप्त करने के लिये अपात्रता होती

है । मनुष्य जन्म मिले बिना वे शाश्वत सुख तक पहुँच नहीं सकते इसीलिये उन जीवों को मानव योनि में प्रवेश देने के लिये गृहस्थाश्रम की योजना की गई ।

उदाहरणार्थः—पथिकों को पानी के लिये किसी पुण्य-वान ने प्याऊ की व्यवस्था की । वह कभी यह विचार नहीं करता कि इस प्याऊ पर पानी पीने के लिये कितने लोग आएँगे ? कब आएँगे ? आएँगे कि नहीं ? वह तो सिर्फ उत्तम हेतु से अनपेक्षित किसी भी बटोही की राह देखता है और प्यासे को पानी पिला कर अपने को धन्य मानता है । उसी प्रकार गृहस्थाश्रमी लोगों के लिए स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध इसीलिये योग्य माना गया है कि वे पशु-पक्षी आदि योनियों में से अपने भोग समाप्त करके परमात्मा की प्राप्ति करने के लिये जो जीव आना चाहते हैं; उनका शरीर तैयार करके रक्खे। जो स्त्री-पुरुष उपर्युक्त उच्च ध्येय को प्राप्त करने के लिये गृहस्थाश्रम निभाते हैं, उन्हें ऊर्ध्वरेता कहते हैं और ऐसे उच्च कोटि के पति-पत्नी के विषय में ही धर्म की आज्ञा है कि "मातृदेवो भवः पितृदेवो भवः" अर्थात् साधक विद्यार्थियों को अपने माता पिता के प्रति दिव्य भावना रखना चाहिये ।

मानवेतर प्राणियों में योग्य ऋतुकाल हुए बिना नर-मादा का समागम नहीं होता, इस पर से यह मालूम होता

है कि पशुओं में ऊर्ध्वरेतृत्व नैसर्गिक है। पशुओं में जो इतनी कामान्धता नहीं होती उसका कारण केवल नैसर्गिक बन्धन है, विज्ञान पूर्वक संयम नहीं! मनुष्य को अपने हिताहित समझने का विशेष ज्ञान होता है, इसीलिये वह अपने ज्ञानबल से ऊर्ध्वरेता बनने के योग्य है। मनुष्य को चाहिये कि अपने विवेक बल का विशेष उपयोग करके ऊर्ध्वरेता बने और मानवता का स्वभाव क़ायम रक्खे। वनस्पतियों से सूर्य्य उनके रस द्रव्य को आकर्षित करके ऊँचा ले जाता है और फिर वर्षा ऋतु में नीचे गिरा कर उनका रक्षण करता है। इसीलिये सूर्य्य ऊर्ध्वरेता है उसका अनुकरण करने के उद्देश्य से ही ब्रह्मचर्याश्रम में सूर्योपासना की प्रमुखता है।

अग्नि ऊर्ध्वरेता है, इसीलिये दीपक की ज्योति तैल को ऊपर खींचती है और ज्वाला भी आकाश की तरफ ही जाती है, जिसका अनुकरण करके 'हम भी ऊर्ध्वरेता बनें' इसी पवित्र उद्देश्य से ब्रह्मचर्याश्रम में हवनादि विधि से अग्नि की उपासना का विधान बनाया गया है।

वायु ऊर्ध्वरेता है, इसीलिये पृथ्वी के रस द्रव्यों को ऊपर ले जाकर वह मेघ बनाता है और वर्षा ऋतु में नीचे डाल कर संसार का संरक्षण करता है, इसीलिये ब्रह्मचर्याश्रम में वायु की गति ऊर्ध्व करने के लिये प्राणायाम का विधान है।

वनस्पति भी अपनी जड़ों के द्वारा पृथ्वी के पोषक द्रव्यों को ऊँचा ले जाती हैं और ऋतु के अनुसार फल-फूल देकर संसार के लिये उपयोगी बनती है। उसी प्रकार पति-पत्नी को भी महान् नैसर्गिक नियमों के अनुसार ऋतु-काल में रजोदर्शन की शुद्धि के बाद ऊर्ध्वरेता बन कर अपने विशेष ज्ञान से मानवता का स्वभाव क़ायम रखना चाहिये। ब्रह्मचारी और कुमारियों को सब स्त्री-पुरुषों के विषय में मातृ-पितृ भाव से रहने का उपदेश आचार्य करते हैं, इस ज्ञान की स्थिरता के लिये अभ्यास करते समय अमुक माता-पिता का भाव निश्चित विशिष्ट व्यक्तियों के प्रति ही न हो कर अखिल विश्व के प्रति अगणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी नैसर्गिक भावना से काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग होने से दुर्भोग का उत्पादन न होकर सुभोग प्राप्त करने योग्य पात्रता देने वाली मानवता आती है।

पति-पत्नी अपने से भिन्न लोगों के विषय में ऊर्ध्व-भावना से मातृ-पितृ रूपी गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान (इन मूल्यों) का उपयोग करने से सुभोग के उत्पादक होते हैं।

पति-पत्नी का पारस्परिक प्रेम गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी अधोभावना से काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करने से भोग विभाजन करता है।

अपने नैसर्गिक प्रेम के विरुद्ध पर-स्त्री व पर-पुरुष रूप गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी अनैसर्गिक भावना से काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करने से दुर्भोग का उत्पादन होता है।

चोरी गई हुई संम्पत्ति फिर मिल गई तो सम्पत्ति का स्वामी आनन्द से वापस ले लेता है, परन्तु पति-पत्नी ने पर-स्त्री या पर-पुरुष से अयोग्य व्यवहार किया तो इसमें विशेष भयङ्कर दुःख होता है और ऐसे दम्पति पहिले की तरह एकत्र नहीं रहना चाहते। आजकल व्यवहार ऐसा बन गया है कि पत्नी पर-पुरुष-गामी पति का त्याग नहीं करती, क्योंकि माता पिता से उसका सम्बन्ध टूटा हुआ होता है और स्थावर तथा जङ्गम सम्पत्ति पर पति का अधिकार होता है, इसलिए यदि वह पति का प्रत्यक्ष प्रतीकार करे तो उसका सम्बन्ध टूट जाता है और उसे परतंत्र रहना पड़ता है, इस परिस्थिति के बन्धन से मन में विशेष विषमता मालूम होने पर भी निरुपाय होने से उसे पति के तन्त्र में रहना पड़ता है। अनेक शताब्दियों से स्त्रियों पर विशेष बन्धन लाद कर उन्हें परतन्त्र बना दिया गया है, इसी कारण से ज्ञानी लोगों के सहवास और शिक्षण के अभाव में स्त्री-जाति अन्धकार में रह गई; फलतः अपनी कर्मेन्द्रिय और नेत्रेन्द्रिय की शक्ति अविकसित रहने से उस (स्त्री जाति) की मानसिक शक्ति जड़ सरीखी बन गई।

स्त्री पुरुष की सहधर्मिणी है, फिर भी कई मत पन्थों में पुरुषों के समान स्त्री को धर्म संस्कार नहीं होते। पत्नी को पाति-व्रत्य का शिक्षण दिया जाता है, परन्तु पुरुषों को पत्नीव्रत नहीं सिखाया जाता। पुरुषों के स्वैर वर्तन से पत्नी-व्रत दबता जा रहा है। पुरुष जाति ने शताब्दियों से स्त्रियों को यह सिखा रक्खा है कि परमेश्वर प्राप्ति भी उन्हें पति-भक्ति से ही होती है! इस प्रकार उन्हें अन्तिम ध्येय प्राप्त करने के लिये भी वंचित रक्खा, परन्तु सच्ची बात यह है कि पति-पत्नी का पारस्परिक प्रेम अधोभावात्मक होने से उसे ईश्वर-भक्ति नहीं कह सकते। माता, पिता, आचार्यादि पूज्यवर्ग सम्बन्धी सेव्य-सेवकता में जो ऊर्ध्वभावना का उपयोग होता है, उसे ही भक्ति कहते हैं। पति-पत्नी का पारस्परिक प्रेम सेव्य-सेवकता रूप ऊर्ध्वभावनात्मक न हो कर समान भावना का है। पति के द्वारा किये हुए धर्मानुष्ठान का फल विना परिश्रम के पत्नी को भी मिलता है, ऐसा सिखा कर स्त्री-जाति को कर्तृत्व-शून्य बना दिया गया है और अपने वैषयिक सुख भोगने के लिये स्त्रियों में जितनी पात्रता चाहिये उतनी बचा कर उन्हें पशु के समान बना दिया गया है और यही कारण है कि आत्मानात्म-विवेक और सद्-असद्विचार के अभाव से स्त्रियों के प्राण और भाव तत्व जड़ सरीखे बन गये हैं; इसी कारण से वर्तमान काल में उत्तम सन्तान प्राप्त होना कठिन हो गया है।

स्त्रियों का शरीर स्वभाव से कोमल होता है, विशेष शारीरिक श्रम के काम पुरुषों के बराबर स्त्रियाँ नहीं कर सकतीं, उसी प्रकार पुरुषों से भी बाल-संगोपन आदि कार्य अच्छी तरह नहीं हो सकते; इस पर से यह मालूम होता है कि स्त्री-पुरुष को एक दूसरे के प्रति सहायक बनने से ही पूर्ण सुख मिल सकता है।

गाय और भैंस में बैल और पाड़े के समान सुदृढ़ता नहीं होती इसलिये मादा जानवरों से नर जानवरों का सा महिनत का काम नहीं लिया जा सकता।

वनस्पति और वल्लरी वृक्ष के आश्रय से ही रहती है, इस पर से स्त्रियों को आन्तरिक स्वतन्त्रता और पुरुषों को बाह्य स्वतन्त्रता होना योग्य है। नैसर्गिक अनुभव ऐसा है कि कहीं-कहीं स्त्रियों को पुरुषों के आधीन रहना जरूरी हो जाता है।

मानलो एक विषयान्ध पाशवी पुरुष है और वह किसी स्त्री पर बलात्कार करने लगा तो उस पुरुष का प्रतीकार करने की नैसर्गिक शक्ति स्त्री में नहीं है, इसलिये वह कुछ नहीं कर सकती।

पुरुष की इच्छा के बिना अगर स्त्री किसी पुरुष पर आसक्त हुई तो लाख प्रयत्न किये जाने पर भी वह तृप्ति

करने में समर्थ नहीं हो सकती! इससे यह मालूम होता है कि सामान्यतः स्त्री की अपेक्षा पुरुष अधिक बलवान है।

मृग नक्षत्र शुरु होते ही पृथ्वी में धान्योत्पादन करने की पात्रता आती है, उसी प्रकार स्त्रियों को मासिकधर्म प्राप्त होते ही गर्भ धारण के योग्य पात्रता आती है। ऋतुकाल में ३ दिन तक रजस्राव होते रहने से आरोग्य और स्वच्छता की दृष्टि से वह समय सहवास के अयोग्य है। उस समय शारीरिक परिश्रम करने से अवयवों में जड़त्व आता है और रसोई करते समय अग्नि के संयोग से अङ्ग में उष्णता बढ़ती है, इसी लिये रसोई पानी का काम करना निषिद्ध माना गया है। मासिक ऋतुकाल के समय विशेष विकार होना स्त्री का मानसिक स्वभाव है, उस प्रसङ्ग में अन्य पुरुष को देखने से मन में वैषयिक वृत्ति का निर्माण होता है, इस लिये उस को जड़त्व प्राप्त होकर प्राण और भाव तत्व में अपवित्रता न आवे इस हेतु से ईश्वर-ध्यान करके योग्य जीवों को प्रवेश देने के लिये अनुरूपता प्राप्त हो, इसी उद्देश्य से उस समय एकान्त में बैठना, शारीरिक श्रम न करना, इत्यादि नियम स्त्री के लिए बनाये जाते हैं।

कामादिक विषय मन से उत्पन्न होते हैं, इस लिए तिक्त, अम्ल, क्षार और मसालेदार पदार्थों के सेवन का त्याग करने से मन की शुद्धि नहीं हो सकती! (किसी अंश में शारीरिक स्वास्थ्य अवश्य सुधर सकता है) हाँ, विशिष्ट पदार्थों

के सेवन से रसनेन्द्रिय की लालसा बढ़ती है और रसनेन्द्रिय से जननेन्द्रिय का सम्बन्ध होने के कारण रस विषय के साथ २ स्पर्श विषय भी बढ़ता है। इस शारीरिक नियम के अनुसार ही ब्रह्मचारी के लिए नियमित आहार का विधान किया गया है।

ब्रह्मचर्याश्रम और संन्यासाश्रम मनुष्य का कल्याण करने के लिये विशेष महत्वपूर्ण माने गये हैं। ब्रह्मचर्याश्रम में योग्य शिक्षित होने के पहले ही अगर गृहस्थाश्रम स्वीकार कर लिया जाय तो मनुष्य में विषयान्धता के कारण पशुत्व वृत्ति का प्रवेश हो सकता है, इसीलिये ब्रह्मचर्याश्रम मनुष्य को आमरण सुसंस्कृत बनाने वाला है। गृहस्थाश्रम में नाना प्रकार के वैषयिक सुख भोगने के बाद जो संस्कार प्राण और भाव तत्वों पर संचित होते हैं, उनका परिणाम जन्मान्तर में प्राप्त न हो, इसी कारण संन्यासाश्रम में उन विकारों को दूर हटाने का अभ्यास किया जाता है जिससे कि संन्यास के पवित्र विचारों के साथ देह त्याग करने पर पवित्र संस्कारयुक्त जन्म प्राप्त हो; इसी कारण से ब्रह्मचर्य्य और संन्यास को महत्वपूर्ण माना जाता है।

अपने नैसर्गिक ब्रह्मचर्य्य के विरुद्ध अनैसर्गिक व्यभिचार करके भी जो जीव राज़ दण्ड से बच जाते हैं, ऐसे बहु सहकर्मी जीवों को रोगादिक रूप से अथवा पृथ्वी आदिक

पंचतत्व, वर्षादि काल, ग्रीष्म वसन्तादि ऋतु इत्यादि के न्यूनाधिक होने पर अन्न वस्त्रादि के अभाव से पीड़ित करके निसर्ग शक्ति द्वारा दण्डित किया जाता है, इसलिए मनुष्य मात्र को ब्रह्मचर्य्य का पालन करना चाहिये जो अपना एक आवश्यक कर्तव्य है।

सारांश यह है कि ब्रह्मचारी और कुमारी को सब स्त्री पुरुषों के विषय में मातृ-पितृ भावना से अखण्ड ब्रह्मचर्य्य का पालन करना चाहिये और गृहस्थ लोगों में पति-पत्नी के सिवाय सब स्त्री-पुरुषों के प्रति मातृ-पितृ भावना अखण्ड बनी रहे ऐसा मनन करते समय उनमें अखिल विश्वात्मक अगणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी नैसर्गिक भावना से काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग होने से दुर्भोग का उत्पादन न होकर सुभोग उत्पादन करने योग्य पात्रता देने वाली मानवता का निर्माण होता है।

प्रत्येक स्त्री-पुरुष के प्रति माता-पिता की ऊर्ध्व-भावना से देखने से ही गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान रूप 'मूल्य' का उपयोग होता है इसलिये, वह सुभोग का उत्पादन करता है।

पति पत्नी के परस्पर अधोभावना का उपयोग करते समय गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान का

उपयोग होने से वही अधोभावना भोग का विभाजन करती है।

पर-स्त्री और पर-पुरुष के परस्पर अनैसर्गिक भावना का उपयोग करते समय गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करना ही दुर्भोग का उत्पादक बन जाता है।

दया

इस संसार में प्रत्येक मनुष्य की ऐसी इच्छा होती है कि "सब लोगों की मुझ पर दयादृष्टि बनी रहे" इस पर से यह प्रमाणित होता है कि कम से कम अपनी व्यक्तिगत सुखशांति के लिए तो दया रखना मनुष्य का नैसर्गिक धर्म है। सब लोग हमारे साथ दयालुता पूर्ण व्यवहार किया करें तो मन को सुख-शान्ति मिलती रहे और निर्दयता दिखाने लगें तो दुःख ही होता है; इस पर से यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक मनुष्य व्यक्तिगत सुख-शान्ति के लिए भी दूसरों पर अवलम्बित है, इसलिये प्रत्येक मनुष्य को दूसरों के लिए अपनी स्वाभाविक दया का उपयोग करके दूसरों की तरफ से भी दया प्राप्त करने में समर्थ बनना चाहिये। इस प्रकार मनुष्य जब पारस्परिक दया के नियम का पालन न करेगा तो वह सुख-शान्ति से वंचित रह जायगा। दया नियम का पालन करने वाले मानव संसार में माननीय पूजनीय होते हैं, किन्तु दया पालन न करने वाले जीवों को [illegible] नहीं देता।

उदाहरणार्थः—कोई अन्धा आदमी मार्ग चूक कर उल्टे रास्ते चलने लगा तो सूझते आदमी का कर्त्तव्य है कि वह उसे उचित मार्ग दर्शन करे, अगर ऐसा न किया तो राष्ट्र उसे दण्ड नहीं देता, यह ठीक है; फिर भी यह कर्त्तव्य-विमुखता कहलाती है, क्यों कि प्रत्येक मनुष्य राष्ट्र का एक अंशीभूत घटक होने से सुख-शान्ति की पूर्ति के लिए मनुष्यों को पारस्परिक दया नियम का पालन करना चाहिये, जिससे राष्ट्र में आन्तरिक सुख-शान्ति का निर्माण हो सके। अपने सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाली दया की भावना का प्राणिमात्र के विषय में विना मूल्य उपयोग करना ही दया का उद्देश्य है।

रास्ते चलते-चलते किसी स्थान पर हमने काँटा पड़ा हुआ देखा तो हम उसे दूर फैंक देते हैं। रास्ते पर कौन आयगा, आयगा कि नहीं, कितने आदमी आएँगे, इस प्रकार कोई व्यक्ति विशेष हमारी भावना का गोचर न होने पर भी हम एक शुद्ध व्यक्ति-निरपेक्ष हेतु से काँटा दूर फैंक देते हैं, पीछे से उस मार्ग पर आने-जाने वाले लोगों को 'किसी ने काँटा दूर फैंका है या नहीं' यह मालूम न होने से उनके हृदय में आनन्द या दुःख कोई भाव उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि काँटा दूर करते समय अखिल विश्वात्मक अगणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी नैसर्गिक दया की भावना से

काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग होता है। इसलिए इससे दुर्भोग प्राप्त न होकर सुभोग प्राप्त करने योग्य पात्रता देने वाली मानवता का निर्माण होता है।

जगन्नियन्ता परमेश्वर ने शाश्वत सुख की तरफ ले जाने वाले सत्य-ज्ञान और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, नदी और वनस्पति आदि विविध पदार्थ सब प्राणियों के संरक्षण और उन्नति के लिये निर्माण किये हैं। उन सब में स्वाभाविक दया का अंश अनुभव में आता है, क्योंकि ये सब वस्तुएँ विना मूल्य हमारे उपयोग में आती हैं। ऐसा कहते हैं कि 'परमेश्वर न्यायी और दयालु है' यहाँ ऐसा प्रश्न उत्पन्न होता है कि दोनों अवस्थाओं (न्याय और दया) का एक स्थान पर होना क्या सम्भव है?

सत्य-ज्ञान के समान संसार में एक भी वस्तु पवित्र नहीं; तब ऐसा महान् दिव्य-ज्ञान जीवों को बिना मूल्य ही प्रदान करने वाला परमात्मा दयालु क्यों न होगा?

यह हमारा अपराध है कि ईश्वर के द्वारा दिये हुए सत्य-ज्ञान का उपयोग न करके हम सुख-शान्ति से वंचित रहते हैं। इस प्रकार के मनुष्य अगर दण्डित न किये जाँय तो वे उन्मार्ग-गमन से अवनति को प्राप्त होंगे उन पर दया करके ही तो उन्हें दण्डित किया जाता है, क्यों कि न्याय दया तत्व का ही अंग है। न्याय और दया में

परस्पर विरोध समझना मूर्खतापूर्ण है, इसलिये हम कह सकते हैं कि ईश्वर दयालु है, इसीलिये न्यायी है और न्यायी है, इसी कारण दयालु भी है।

माता-पिता बिना मूल्य सन्तति का संरक्षण करते हैं, इसलिये दया एक नैसर्गिक शक्ति है। सन्तति रूपी गणित साध्य-द्रव्य-सम्बन्धी दया करते समय अधोभावना से काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग होता है, इसलिए सन्तति-विषयक दया भोग का विभाजन करती है। माता-पिता और आचार्य का स्वभाव पुत्र-पौत्र और शिष्य-प्रशिष्यों के द्वारा अपने विषय में आदर चाहता है, इसलिए पूज्य पुरुषों के साथ अनैसर्गिक अविनय का व्यवहार करके उनके मनको दुःख देना दयाहीनता है।

यहाँ आचार्यादि के साथ गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी अनैसर्गिक भावना से काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करना दुःखोत्पादक है।

कुँए, बावड़ी, तालाब, धर्मशाला, औषधालय और वृक्षा-रोपण आदि कार्य दयाभावना पूर्वक करने से चिरकाल के लिए सुभोग प्राप्त कराने वाले होते हैं। जलाशय का पानी पी कर अब तक कितने लोग तृप्त हुए होंगे और आगे कितने लोग तृप्त होते रहेंगे, इसकी मनुष्य-गणना कौन कर सकता है? उसी प्रकार वृक्ष और काल-गणना कौन

की छाया और फल का उपयोग भी न मालूम कितने लोगों ने किया होगा और न मालूम कितने लोग करने वाले होंगे, इसकी गणना सम्भव नहीं। इस प्रकार अगणित काल और अगणित मनुष्य सम्बन्धी दया करते समय ऊर्ध्व भाव से काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग होता है जिससे मूल्य भी विशेष बनता है और वह 'मूल्य' कीर्ति रूप से रहने में और अतीन्द्रिय सुख प्राप्ति में उपयोगी बन जाता है।

सारांश यह है कि नैसर्गिक भावना से दया तत्व द्वारा अगणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करने से दुर्भोग प्राप्त न होकर सुभोग प्राप्त करने योग्य पात्रता देने वाली मानवता का निर्माण होता है।

गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी दया तत्व द्वारा ऊर्ध्व भावना से काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करने से दीर्घ काल तक अनुभव में आने वाला सुभोग प्राप्त होता है।

अधोभावना से गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करने से दया तत्व भोग का विभाजन करता है।

पूज्य वर्ग के साथ गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी अनैसर्गिक भावना से काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करने से दुर्भोग का उत्पादन होता है।

क्षमा

प्रत्येक मनुष्य अल्पज्ञ होने से उसके द्वारा अपराध होना स्वाभाविक है। ऐसे समय में सब यही चाहते हैं कि (जब कि कोई अपराध होगया हो) "हमारे अपराध क्षमा कर दिये जाँय! अर्थात् हमारे द्वारा किये गये अपराधों के बदले हमें किसी प्रकार का दण्ड न मिले!" इस पर से यह सिद्ध होता है कि क्षमा नैसर्गिक तत्व है।

अपने अपराधों को दूसरे लोग जब क्षमा कर देते हैं, तो मन को सुख-शान्ति मिलती है और दण्ड मिलने पर अशान्ति। इस पर से यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक मनुष्य अपनी सुख-शान्ति के लिए क्षमा नियम द्वारा दूसरों पर अवलम्बित है; इसलिए प्रत्येक मनुष्य दूसरों के विषय में अपने नैसर्गिक क्षमा नियम के पालन किये बिना दूसरों की ओर से क्षमा पाने में असमर्थ है। क्षमा नियम के पालन करने वाले मनुष्य राष्ट्र में माननीय पूजनीय होते हैं, क्षमा नियम के न पालने पर राष्ट्र कुछ भी दण्ड नहीं करता। "अपराधी को दण्ड देना या क्षमा करना" इस

विषय में मनुष्य स्वतन्त्र है। परन्तु दण्ड देने से स्वतन्त्रता का दुरुपयोग होता है, क्यों कि प्रत्येक मनुष्य राष्ट्र का एक अंशीभूत घटक होने से व्यक्तिगत सुख-शान्ति के लिए और राष्ट्र की आन्तरिक सुव्यवस्था के लिए सबको क्षमा नियम का पालन करना चाहिये।

जिस व्यक्ति को अपने अपराध के बदले अन्तःकरण में पश्चात्ताप नहीं होता, उस व्यक्ति को फिर अपराध न करें ऐसी मनोवृत्ति बनाने के हेतु से अगर दण्ड दिया जाय तो यह योग्य है, परन्तु जिस व्यक्ति को अपने अपराध के बदले पश्चात्ताप मालूम होता है, उस व्यक्ति को क्षमा करना ही चाहिये।

अपना अपराध करने वाले किसी भी व्यक्ति के विषय में नैसर्गिक भाव लाकर क्षमा कर देना मनुष्य का कर्त्तव्य है। "प्राणिमात्र के प्रति क्षमा का उपयोग करना है" ऐसा मनन करते समय अखिल विश्व रूप अगणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी क्षमा तत्व की नैसर्गिक भावना से काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग दुर्भोग का उत्पादन नहीं करके सुभोग प्राप्त करने की पात्रता निर्माण करने वाली मानवता देता है।

माता-पिता अपनी सन्तति के अपराध की प्रायः क्षमा करते हैं, इस पर से माता-पिता में नैसर्गिक रूप से क्षमा रहती ही है।

सन्तति के अपराध करने पर सन्तति के गणित-साध्य-द्रव्य होने से अधोभावना सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग होता है इसलिए वह क्षमा भोग का विभाजन करती है ।

क्षमा करने वाले का हेतु होता है कि अपराधी को अपराधों के लिए दण्डित करके मन दुखाने की अपेक्षा ज्ञान पूर्वक सन्मार्ग में लगाया जाय ।

अपराधी रूपी गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी नष्ट वस्तु का मूल्य और सन्मार्ग के लिए होने वाले ज्ञान के द्वारा इस ऊर्ध्व भावना से क्षमा तत्व में काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग होता है इसलिए यह क्षमा सुभोग का उत्पादन करती है । मनुष्य को क्षमा की प्राप्ति के लिए नष्ट पदार्थ सम्बन्धी मोह हृदय से दूर करना पड़ता है । अपराधी को दण्डित करते समय यदि भाव तत्व पर क्रोध की तरंगें उठीं तो हृदय में मलीनता पैदा होती है इसलिए उस मलीनता को दूर करके पवित्रता के हेतु से क्षमा तत्व का अवलम्बन करना आवश्यक है ।

क्रोध करते समय प्राण तत्व और भाव तत्व में विशेष गति होकर एक विद्युत् उत्पन्न होती है, जिससे रक्त के कण तप्त हो जाते हैं और वह विद्युत् अधःप्रवाही होने से प्राण तत्व और भाव तत्व का ओज जल जाता है और

ज्ञान तन्तु निर्बल हो जाते हैं। इसलिए क्रोध से होने वाली शारीरिक और मानसिक हानि से बचने के लिए जिस मनुष्य में क्षमा करने की पात्रता नहीं हो उसको शान्ति प्राप्त होना अशक्य है। शान्ति प्राप्त हुए बिना आत्मा-नात्म विचार धारण करने की योग्यता नहीं आती इसीलिए क्षमा तत्व को शान्ति प्राप्ति की पूर्व अवस्था समझना चाहिये। क्षमा तत्व का उपयोग अपनी किसी न किसी प्रकार की हानि के समय ही होता हैं और लाभ के समय लोभ उत्पन्न होता है और लोभ से भोग लालसा बढ़ती है; इसलिए लोभ और भोग लालसा से बचने के लिए संयम और शान्ति उत्पन्न करने वाला क्षमा तत्व ही उपयोगी है।

सुख-दुःख और निन्दा-स्तुति के समय विषम भाव पैदा होते हैं। क्षमा तत्व द्वारा ही उस समय शान्ति प्राप्त होती है और मनुष्य जीवन का अभ्युदय उसी समय हो सकता है।

माता में अनुपम क्षमा होती है। बालक के संरक्षण के काम में वह क्षमा और शान्ति तत्व का भरपूर उपयोग करती है।

अपने वत्स का संरक्षण करने के लिए गौ आदिक पशुओं के अन्तःकरण में भी भरपूर क्षमा और शान्ति होती है।

धरती माता सब प्राणियों को अन्न-वस्त्र देकर उनका संरक्षण करती है। इस पर कोई मल विसर्जन करता है, कोई खोदता है, कोई परमात्मा का ध्यान करता है, इन सबको वह समान धर्म से क्षमा करती है। उसी प्रकार नदी में कोई स्नान करता है, कोई मलिन वस्त्र धोता है, कोई पानी पीता है परंतु उसके प्रशान्त प्रवाह में कभी कोई अड़चन उत्पन्न नहीं होती! उसकी क्षमावृत्ति अखंड रूप से चालू रहती है।

'क्षमा' वीरों में ही होती है, निर्बलों या दुर्बलों में नहीं! इसीलिये यह सूक्ति जन-समाज में विशेष रूप से प्रचलित है "क्षमा वीरस्य भूषणम्"। जिस प्रकार छत्र चामर मुकुटादि से राजा सुशोभित होता है, उसी प्रकार क्षमा गुण धारण करने से वीर सुशोभित होता है; सारांश यह है कि अपने नैसर्गिक क्षमा तत्व का पालन हमें अखिल विश्व के प्राणिमात्र के प्रति करते रहना चाहिये! क्योंकि हमारा यह अत्यावश्यक कर्त्तव्य है।

तात्पर्य्य यह है कि अखिल विश्व रूप अगणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी नैसर्गिक भावना से काल, कर्म और ज्ञान पूर्वक क्षमा तत्त्व का उपयोग किया जाय तो दुर्भोग का उत्पादन न होकर सुभोग-प्राप्ति की पात्रता देने वाली मानवता का निर्माण होता है।

अपराधियों को क्षमा और दण्ड देते समय अपराधी रूपी गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी ऊर्ध्व-भावना से, काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करने से सुभोग की उत्पत्ति होती है। सन्तति ने अगर अपराध किया तो उस समय गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी क्षमा तत्व का अधोभावना से काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग हुआ इसलिये यह क्षमा और दण्ड दोनों भोग का विभाजन करते हैं।

किसी पर बिना कारण अपराध लाद कर उसे दण्ड देने में अनैसर्गिक भावना से गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग होने के कारण दुर्भोग का उत्पादन होता है।

दान

प्रत्येक मनुष्य को किसी न किसी प्रकार की इच्छा निर-न्तर बनी ही रहती है। उसे 'दूसरे सहायता करके पूरी कर दें' ऐसी वह अपेक्षा किया ही करता है, इस पर से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य मात्र में दान का नियम नैसर्गिक है।

अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए दूसरों से अगर हमें दान मिला तो मन में सुख-शान्ति होती है और न मिलने पर अशान्ति; इस पर से यह मालूम होता है कि प्रत्येक मनुष्य दान नियम के द्वारा व्यक्तिगत सुख-शान्ति प्राप्त करने के लिए परावलम्बी है, इसलिए अपने स्वाभाविक दान नियम का दूसरों के विषय में उपयोग किये बिना दूसरों से दान प्राप्त करने के लिए कोई मनुष्य स्वयं पात्र नहीं बन सकता।

दान नियम का पालन करने वाले मानव राष्ट्र के लिए माननीय पूजनीय होते हैं क्यों कि दान नियम का पालन न करने वाले मनुष्यों को राष्ट्र किसी प्रकार का दण्ड नहीं

देता । अन्न वस्त्र के अभाव में पीड़ित होने वाले नङ्गे भूखों को श्रीमन्तों की ओर से अन्न वस्त्रादि का दान होना ही चाहिये । यह ठीक है कि ऐसा न करने से राष्ट्र उन को अपराधी समझ कर दण्ड नहीं देता, फिर भी यह सामाजिक कर्तव्य भङ्ग रूप दोष है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य राष्ट्र का एक अंशीभूत घटक है । अपनी व्यक्तिगत सुखशान्ति को पाने के लिए भी मनुष्यों को दान नियम का पालन करना चाहिये । जिससे दीन, दुर्बल, दुखी, लूले, लँगड़े आदि को अगर शान्ति मिलती रही तो हमें भी सुख मिलेगा ।

संसार में धन भी सुख-शान्ति का एक बड़ा साधन है, क्यों कि आज वह सब व्यवहारों का माध्यम बना हुआ है। कहावत है कि "संसार अर्थमय और अन्नमय है" अर्थ और अन्न कहने के लिए अलग-अलग हैं । वास्तव में वे परस्पर अवलम्बी हैं । अन्न बहुत काल तक नहीं टिकता इसलिए धन रूप में अन्न संग्रह करने की प्रथा बहुत काल से चली आ रही है, अर्थ मय प्राण और अन्न मय प्राण दोनों शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं ।

शरीर संरक्षण के लिए अन्न चाहिये और अन्न प्राप्ति के लिए अर्थ की आवश्यकता है, इन सब प्रत्यक्ष कारणों से धन का लोभ मनुष्य मात्र को हो सकता है, होता भी है । दान नियम की नैसर्गिक भावना को जाग्रत करने के लिए उस लोभ की निवृत्ति करना आवश्यक है ।

माता-पिता ने जन्म दिया है, आचार्य ने ज्ञान दिया है। बदले में उनको तन, मन, धन सर्वस्व अर्पण करना यह दक्षिणा है। प्रत्येक मनुष्य के मन में यह भावना बनी हुई है कि यह तन, मन, धन अपना है परन्तु निम्न लिखित पद्धति से माता, पिता और आचार्य को सर्वस्व समर्पण करने के बाद यह ग़लत भावना मिट जाती है। माता, पिता आचार्य और अतिथि आदि पूज्य वर्ग की सेवा सुश्रूषा करना, उनके मन को सन्तुष्ट करने के लिए शुद्ध हृदय रखना और उनका योग क्षेम चलाने के लिए धन का उपयोग करना। इस प्रकार तन, मन, धन सम्पत्ति करते समय गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी ऊर्ध्व भावना से काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग होता है और वह 'मूल्य' उत्तम शरीर अथवा सम्यग्ज्ञान आदि अमूल्य वस्तुओं की प्राप्ति करने के लिए उत्तम साधन बनता है। किसी भी अनिश्चित तिथि को आने वाले लूले, लंगड़े, सन्यासी और पान्थस्थ आदि लोगों का पोषण करने के लिए पात्र का विचार करके यथाशक्ति अपने द्रव्य का उपयोग करना यह एक प्रकार का दान है।

अतिथि रूपी गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी ऊर्ध्व भावना से काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग होता है, इसलिए दान सुभोगोत्पादक है।

पात्रापात्र विचार करने की शक्ति प्रत्येक मनुष्य में स्वाभाविक है अगर किसी ने उस ज्ञानशक्ति का उपयोग नहीं किया और अपात्र को दान कर दिया तो वह अपराधी दाता दण्डनीय हो जाता है, इसलिए जिसके हृदय में मानवता नहीं ऐसे व्यक्ति को गाय, पृथ्वी, कन्या, सम्पत्ति राज्य और गुप्त विद्या आदि दान करना जनता के लिए अत्यन्त वाधक और राष्ट्रीय शान्ति का घात करने वाला है इसलिए दान देते समय पात्र और अपात्र का विचार करना बहुत आवश्यक है।

दान लिए हुए धन का अनैसर्गिक भावना से उपयोग करते हुए गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान का प्रयोग होने से लेने वाले और देने वाले दोनों के लिए दुःखोत्पादक है।

दान करने से हृदय में त्याग आता है और त्याग से भोग लालसा कम हो कर वैराग्य प्राप्त होता है, इसलिए दान वैराग्य प्राप्ति के लिए पूर्व साधन है। वैराग्य से सत्य ज्ञान स्थिर होता है और सत्य-ज्ञान से सहज आनन्द होता है। इस तरह इस महान् प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए दान का नियम अत्यन्त आवश्यक है।

सब प्राणियों का संरक्षण करने के लिए सूर्य्य, चन्द्र का प्रकास, वर्षादि काल, वसन्तादि ऋतु नदियाँ और वन-

स्पतियाँ वगैरह सर्व वस्तु बिना मूल्य दान रूप से प्रकृति के भण्डार में से मिलती हैं क्योंकि निसर्ग के अन्दर दातृत्व भाव अखण्ड है। मनुष्य को अपने ज्ञानबल से निसर्ग से दातृत्व भाव प्राप्त करके अपनी मानवता बचाना चाहिये।

सारांश यह है कि अखिल विश्व रूप अगणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी नैसर्गिक भावना से काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करने से दुर्भोग का उत्पादन न होकर सुभोग उत्पादन करने योग्य पात्रता देने वाली मानवता आती है। माता, पिता, आचार्य और अतिथि रूप गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी दान नियम का ऊर्ध्व भावना में काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करने से सुभोग की उत्पत्ति होती है।

अधोभावना से गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी जो दान किया जाता है वह काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग भोग का विभाजन करता है।

अपात्र-दान अनैसर्गिक भावना से गणित--साध्य--द्रव्य सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करके किया जाता है; इस कारण लेने वाले और देने वाले दोनों के लिए दुर्भोगोत्पादक है।

पूजा और जप

प्रत्येक मनुष्य की ऐसी अभिलाषा होती है कि "दूसरे अपना सत्कार (पूजा) करें" इस पर से यह सिद्ध होता है कि पूजा का नियम मनुष्य के लिये नैसर्गिक है। दूसरों के द्वारा अपना आदर—सत्कार किये जाने पर मन में सुख—शान्ति होती हैं और अनादर से दुःख ।

इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य में "अपनी स्तुति—कीर्ति (जप) हो" ऐसी इच्छा रहती है और दूसरों ने अगर स्तुति-कीर्ति की तो मन को सुख-शान्ति मिलती है निन्दा और अपकीर्ति करने से अशान्ति । इस तरह जप नियम प्रत्येक मनुष्य के लिये नैसर्गिक सिद्ध हो जाता है ।

अपना आदर-सत्कार और स्तुति-कीर्ति दूसरों की तरफ़ से होने के कारण मनुष्य परावलम्बी है इस लिये हम यदि स्वाभाविक पूजा और जप नियम का पालन दूसरों के विषय में नहीं करेंगे तो हम को भी दूसरों की ओर से आदर-सत्कार (पूजा) और स्तुति-कीर्ति (जप) कैसे मिल सकती है ? दूसरों के विषय में पूजा और जप नियम का पालन करने वाले संसार में माननीय पूजनीय होते हैं। ऐसा न

करने वालों को राष्ट्र अपराधी नहीं समझता, फिर भी यदि हमने सद्गुणी का आदर सत्कार और जप नहीं किया तो सामाजिक कर्त्तव्य-च्युति का अपराध होता है। प्रत्येक मानव, राष्ट्र का एक अंशीभूत घटक होने से अपने नैसर्गिक पूजा और जप का परिस्थिति के अनुसार पालन करे तो राष्ट्र की आन्तरिक शान्ति सुरक्षित रह सकती है।

मनुष्य के शरीर में चक्षु, कर्ण, घ्राण, जिव्हा और त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और हस्त, पाद, गुदा, शिश्न और मुख ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। ज्ञानेन्द्रियों में से कान और आँख को छोड़ कर दूसरी इन्द्रियों में स्वतन्त्र कार्य करने की शक्ति नहीं है। इच्छित वस्तु प्राप्त करने के लिए कान और आँख का ही उपयोग होता है।

मानो अन्धा मनुष्य बहरा भी है। अब यदि उस मनुष्य की पत्नी, माता, बहिन भाई या बाप वगैरह कोई पास खड़ा रह कर बोलने लगे तो वह कान से सुने बिना क्या पहिचानेगा? उसी तरह आँख से देखे बिना क्या समझेगा? हाथ से स्पर्श करके स्त्री और पुरुष का ही अनुमान कर सकता है। उसी प्रकार सुवास प्राप्त करने के लिए उस सुगन्ध तक जाकर भी वह सुगन्धित वस्तु प्राप्त करने के लिए नेत्र नहीं हैं और दूसरों के कहने पर जावे तो 'कहाँ जावे,' यह सुनने के लिए कान नहीं है! इस पर से कान

और आँख के बिना अन्य इन्द्रियों से स्वतन्त्रता के साथ कार्य नहीं हो सकता । कर्ण और नेत्र इन दोनों इन्द्रियों का एक साथ अभाव किसी व्यक्ति में क्वचित् ही पाया जाता है ।

अपने मन के सूक्ष्म विचार प्रकट करने के लिए मुख एक साधन है । शरीर संरक्षण के लिए आवश्यक अन्न वस्त्रादि निर्माण करने के लिए मन के विचार दूसरों को लिख कर देना हो तो हाथ एक साधन है, इस पर से यह सिद्ध होता है कि हाथ और मुख कर्मेन्द्रियों में प्रमुख हैं ।

कुछ न कुछ अंश में ज्ञानेन्द्रियों के गुण-धर्म कर्मेन्द्रियों में और कर्मेन्द्रियों के गुण-धर्म ज्ञानेन्द्रियों में रहते ही हैं।

शिश्न कर्मेन्द्रिय है जो स्पर्श सुख रूप ज्ञानेन्द्रिय के विषयभोग में काम आता है । जिव्हा यह ज्ञानेन्द्रिय है फिर भी भाषण करने की कर्मेन्द्रिय का काम करती है इस से मालूम होता है कि ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय परस्पर सम्बद्ध हैं ।

सुख दुःख की कल्पना पहिले भावना में उत्पन्न होती है फिर प्राण के रूप में परिवर्तित होकर ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से विकास पाती है । मन

अखण्ड रूप से किसी न किसी नाम रूप वाली इच्छित सुख वस्तु की प्राप्ति करने के लिए मनन करता रहता है। नाम-रूप से ही अनन्त वस्तुओं का संयोग वियोग होता है। जहाँ रूप है, वहाँ नाम है और जहाँ नाम है, वहाँ रूप है। चाहे वह रूप दृष्टिगोचर हो या भावगोचर।

"वृक्ष" इस नाम का उच्चारण सुनते ही वृक्ष की आकृति ध्यान के या दृष्टि के गोचर होगी और वृक्ष की आकृति देखते ही 'वृक्ष' इस नाम का अनुभव आयगा इस पर से यह सिद्ध होता है कि नाम और रूप दोनों एक ही वस्तु के बोधक हैं।

लौकिक और पारलौकिक सुख नामरूपात्मक हैं। नाम रूपाङ्कित प्राण और भाव तत्वों को नाम रूपातीत करने के लिए पूजा और जप नियम का शिक्षण लेना अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्य वर्ग के जीवों को नाम रूप के विशेष सुख दुःखावरण प्राप्त होते हैं। मनुष्येतर प्राणी और वनस्पति आदि जीवों को विशेष सुख दुःखावरण प्राप्त नहीं होते क्यों कि सब प्राणियों के भाव और प्राण तत्वों की आकर्षण शक्ति समान नहीं होती। इसलिए मनुष्य में ही यह शक्ति है कि वह प्राण और भाव तत्व पर पड़े हुए नाम रूप के आवरण को छेदन करके रूपातीत होने के लिए पूजा और नामातीत होने के लिए जप का साधन कर सकता है।

प्रत्येक मनुष्य संसार की जड़ चेतन वस्तु को आँख से देखता है और हाथ से उस का विनियोग करता है इसलिए आँखों के लिए हाथ सहायक हैं। मनुष्य कान से नाम सुनता है और मुख से बोलता है इसलिये कान के लिए मुख सहायक है, आँख और हाथ का अधो-रूप सम्बन्धी उपयोग न करके ऊर्ध्व-रूप सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करना पूजा है।

मुख का और कान का पुत्र, दारा, धन-रूप अधो-नाम सम्बन्धी उपयोग न करते हुए माता, पिता, आचार्य और परमेश्वर-रूप ऊर्ध्व नाम सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करना जप है। अधोनाम रूप के संस्कार का निरसन करके ऊर्ध्व नाम रूप के संस्कार का निर्माण हो इसी लिए मूर्तिपूजा का साधन बनाया गया है।

भौतिक विज्ञान शास्त्र का अन्वेषक हो! चाहे शैव, शाक्त, गाणपत्य, बौद्ध, सौर, जैन, क्रिश्चियन, मुसलमानी और आर्यमतों के संस्थापक हों! अथवा कृषि आयुर्वेद संशोधक हों! चाहे ऐतिहासिक महापुरुष हों! उनके सम्बन्ध में उन-उन विषयों का व्यासंग रखने वाले साधक या अनुयायीगण उनके नाम वर्णन करनेसे आनन्द मानते हैं और उनके चित्रादि के प्रति आदर भाव प्रकट करते हैं, यह मूर्ति-पूजा की स्वाभाविकता का द्योतक है।

प्रत्येक मनुष्य में माता, पिता और आचार्य सम्बन्धी ऊर्ध्व भावना जन्मतः स्वाभाविक होने से मूर्तिपूजा नैसर्गिक है, इसलिए नैसर्गिक एकदेशीय ऊर्ध्वभावना का विकास करने के लिए माता, पिता और आचार्य के प्रतीक स्वरूप मूर्ति पूजा करना कर्तव्य है ।

माता, पिता और आचार्य के अतिरिक्त अतिथि का सत्कार करना भी मनुष्य का परम कर्त्तव्य है । निश्चित तिथि को न आने से उन्हें अतिथि कहते हैं, उनकी सेवा के लिए धन-धान्य की आवश्यकता है और अत्यन्त दरिद्री धन-धान्य से पीड़ित व्यक्ति अतिथि-सत्कार के लिए असमर्थ होता है ऐसे साधक को भी किसी भी काल और किसी भी परिस्थिति में ऊर्ध्व नाम रूप सुलभ होने के लिए शिलामय प्रतिमा की पूजा धर्मशास्त्र में ग्राह्य मानी गई है ।

'स्त्री-पुरुष के आकार की प्रतिमा की कल्पना भावना में आते ही अपवित्रता निर्माण होगी' ऐसा समझना ठीक नहीं ! क्यों कि साधक उस मूर्ति को स्त्री-पुरुष न मानकर अधोभावना छोड़ते हुए माता-पिता मान कर ऊर्ध्व भावना से देखता है इसलिए वैषयिक विकार पैदा नहीं हो सकता ! कदाचित् जिसके दिल में मातृ-पितृ भक्ति स्थिर न हुई हो, ऐसे मन्द साधक को मूर्ति देख कर काम विकार पैदा हो भी जाय तो भी उसके शमन के लिए मूर्ति में चैतन्य नहीं होता उसी प्रकार अपने घर पर माँ, बहिन, भौजाई, बाप,

भाई, देवर, जेठ इत्यादि सजीव स्त्री-पुरुष एकत्र रहें तो भी पारस्परिक वैषयिक विचार पैदा नहीं होते तो शिलामय स्त्री-पुरुष की आकृति को देख कर काम विकार पैदा होगा, ऐसी कल्पना युक्तिशून्य और विचारशून्य प्रलाप मात्र है ।

"राम" यह शब्द कागज पर देखते ही राम नाम के व्यक्ति का स्मरण आता है ! इतना ही नहीं, उनके गुण-धर्म भी भावना में अङ्कित हो जाते हैं ! कागज पर 'राम' शब्द जड़ है फिर भी उस शब्द को देख कर हमारी भावना पर 'राम' इस शब्द का जड़ संस्कार न होते हुए उसके गुण-धर्म हृदय में प्रतिबिम्बित होते हैं । मूर्ति जड़ वस्तु चैतन्यहीन होने पर भी साधक ने ऊर्ध्व भावना से काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग किया तो उस जड़ वस्तु के जड़त्व का परिणाम भावना पर न होकर चैतन्यमय गुण धर्म का संस्कार ही साधक के प्राण और भाव दोनों तत्वों पर होगा ।

अनेक बन्धु ऐसी शङ्का करते हैं कि 'मूर्ति तो प्रत्यक्ष जड़ है, उसमें परमात्मा की कल्पना करना मिथ्या भावना है। पृथ्वी को पृथ्वी, जल को जल, अग्नि को अग्नि और वायु को वायु समझना यह सम्यग्भावना हो सकती है पर पृथ्वी को जल, जल को अग्नि और अग्नि को वायु समझना मिथ्या भावना है ।' यह कहना ठीक है फिर भी साधक या साधिका मूर्तिपूजा करते समय जड़ वस्तु के लिए भावना

का उपयोग नहीं करता। वह तो जड़ वस्तु में भी व्यापक परमात्मा सम्बन्धी भावना का ही उपयोग करता है इसके बिना अल्पज्ञ जीवों को सर्वव्यापी परमात्मा का आकलन होना असम्भव है इसलिए प्राथमिक साधकों के लिए मूर्ति-पूजा आवश्यक है। बालक पहिले पहल माता का रूप ही पहचानता है, उसके बाद वह उसको पुकारना सीखता है और धीरे-धीरे उसको निराकार मातृत्व भाव का भान होता है, इस तरह घर के अन्य लोगों को भी वह पहचानने लगता है। बाल्यावस्था में बालक स्वभावतः रूप-प्रिय होता है, इसीलिए प्राथमिक विद्यार्थियों को अक्षरज्ञान कराने के लिए लहसन का 'ल', कमल का 'क', गणपति का 'ग'—इस प्रकार खास-खास चित्रों द्वारा शिक्षण दिया जाता है, फिर अक्षरज्ञान हो जाने के बाद उस लहसन कमल और गणपति के रूप की जरूरत अपने-आप चली जाती है, इस प्रकार 'नाम रूपात्मक जगत् सत्य है' इस भावना के साधक को नामरूपात्मक जगत्सम्बन्धी अधोभावना का विचार प्रवाह नष्ट करने के लिए ऊर्ध्वभावना के नाम रूप की उपासना बताई जाती है। उसके बाद ही उस में नाम रूपातीत परमात्मा की भावना करने की पात्रता आती है।

यदि ऐसी शंका की जाय कि 'मूर्ति सावयव होने से उपासना के समय विविध अङ्गप्रत्यङ्ग सम्बन्धी भाव तत्व में

चञ्चलता पैदा होती है' परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि मनुष्य आँखों से संसार की अनेक जड़-चेतन वस्तुओं को क्रमशः अखण्ड रूप से देखते रहता है । रूप के बिना दृष्टि का अस्तित्व ही नहीं है, इसी तरह अवयव अनेक होने पर भी मूर्ति एक ही है; अङ्ग-प्रत्यङ्ग भी अगणित नहीं हैं, सीमित ही हैं; ऐसी स्थिति में अनेक स्वरूप वस्तु सम्बन्धी संयोग वियोग करने वाली दृष्टि को एक मूर्ति में केन्द्रित करने से चञ्चल भाव स्थगित हो जाता है । कोई कोई कहते हैं कि 'एकदेशीय मूर्ति के स्थान पर सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापक परमात्मा की उपासना करना योग्य नहीं' इस आक्षेप का उत्तर यह है कि हम मनन करने वाले जीव एकदेशीय हैं इसलिए मनन करने के लिए मननीय वस्तु भी एकदेशीय ही होगी ।

उदाहरणार्थः— व्यापक आकाश के सम्पूर्ण भाग को मनुष्य देख नहीं सकता उसके एक अंश को ही देख सकता है, उसी तरह सर्वव्यापी परमात्मा की एक मूर्ति के सामने उपासना की जाती है अथवा परमात्मा न्यायी और दयालु है, इस तरह उसके एक दो गुणों का ध्यान किया जाता है । वैसे तो किसी भी रीति से तुम परमात्मा की उपासना करो ! वह एकदेशीय ही होगी इसलिए एकदेशीय रूप से उपासना करना 'दोष' न हो कर एकदेशीय जीव का धर्म है ।

पूज्य, पूजक और पूजा-द्रव्य इन तीनों वस्तुओं में परमात्मा व्यापक है इसलिए अर्घ्यादि पूजा-द्रव्य मूर्त्ति को समर्पण करने की अपेक्षा उन पदार्थों में परिस्थिति के अनुसार परमात्मा की भावना करना योग्य नहीं है क्या ? इस आक्षेप का उत्तर ऐसा है कि जिस साधक को 'परमात्मा सर्वान्तर्यामी, पूर्ण, नित्य, न्यायी और दयालु है' ऐसी शाब्दिक व्यापकता मान्य है परन्तु अन्तःकरण में एकदेशीयता रहती है, वही मूर्त्ति की पूजा और नमस्कार करने का निषेध करता है ।

जठराग्नि और अन्न इन दोनों वस्तुओं में परमात्मा व्यापक है, फिर भी मनुष्य को अन्न खाने की जरूरत पड़ती है। वस्तुओं के पारस्परिक संयोग-वियोग होने से परमात्मा की पूर्णता में बाधा आती है! ऐसा समझना युक्ति-शून्य है। क्योंकि संयोग-वियोग की क्रिया पूर्णता का ही एक अङ्ग है।

मनुष्य स्नान, भोजन, वस्त्र, प्रावरण इत्यादि सब भोग्य वस्तुओं का उपयोग शारीरिक संतोष के लिए अपनी अधोभावना से करता है । शरीर-संबन्धी अपनी अधो भावना का रूपान्तर ऊर्ध्वभावना में करने के लिए मूर्त्ति के सान्निध्य में शरीर और मन को दीर्घ काल तक स्थिर करने के लिए पूजा-द्रव्य समर्पण किया जाता है । वह पूजा-द्रव्य मूर्त्ति के सन्तोष के लिए नहीं होता ।

अपने शरीर-संरक्षण के लिए उपयोगी अनेक भोग्य

द्रव्य ऊर्ध्वभावना से मूर्त्ति को समर्पण करते रहने से अपने शरीर-सम्बन्धी अधोभावना को साधक भूल जाता है। अर्घ्यादि पूजा-द्रव्य मूर्त्ति को समर्पण करते समय एक के वाद एक नित्य नूतन पूजा-द्रव्य समर्पित करते रहने से दूसरी वस्तु की ओर मन और दृष्टि नहीं जासकती।

मनुष्य दूसरों के घर अतिथि होकर गया तो उसके सन्मान के लिए यजमान जो समर्पण करता है, उससे वह अधोभावना सम्बन्धी सन्तोष प्राप्त करता है, परन्तु मूर्ति को जो द्रव्य समर्पित किया जाता है, उसमें उर्ध्वभावना रहती है।

मनुष्य अपने स्थूल शरीर को अधोभावना से स्नान कराता है, परन्तु मूर्ति को स्नान कराते समय ऊर्ध्वभावना रहती है, इसी को "अभिषेक" कहते हैं।

मनुष्य अपने शरीर पर अधोभावना से वस्त्र पहिनता है, परन्तु मूर्ति को वस्त्र समर्पण करते समय ऊर्ध्वभावना रहती है।

मनुष्य अपने शरीर को अधोभावना से उबटन लगाता है, परन्तु मूर्ति को चन्दनादि सुगन्धित द्रव्य समर्पित करते समय ऊर्ध्वभावना रहती है। दूसरों ने किसी मनुष्य को सम्मानित करने के लिए पुष्पमाला पहनाई तो वह अधोभावना से सन्तुष्ट होगा, परन्तु साधक मूर्ति को जो पत्र पुष्प समर्पण करता है, उसमें ऊर्ध्वभावना रहती है।

मनुष्य धूप से वायु को सुगन्धित करके अपने मन को अधोभावना से आनन्दित करता है, परन्तु मूर्ति को धूप समर्पित करते समय ऊर्ध्व भावना रहती है ।

मनुष्य अपने लिये दीपक का उपयोग अधोभावना से करता है पर मूर्ति को दीप समर्पण करते समय ऊर्ध्व भावना रहती है ।

मनुष्य अपने शरीर संरक्षण के लिये अधोभावना से अन्नजल का उपयोग करता है परन्तु मूर्ति को अन्नजल और नैवेद्य समर्पण करते समय ऊर्ध्वभावना रहती है ।

मनुष्य अपनी मुखशुद्धि के लिए ताम्बूल का ग्रहण अधोभावना से करता है, पर मूर्ति को ताम्बूल समर्पण करते समय ऊर्ध्वभावना रहती है ।

मनुष्य अपने नित्य व्यवहार में धन का उपयोग अधोभावना से करता है, परन्तु मूर्ति को धनसमर्पणरूप दक्षिणा देते समय ऊर्ध्वभावना रहती है ।

मनुष्य अपने व्यवहार के लिये नित्य अधोभावना से भ्रमण करता है, परन्तु मूर्ति के आसपास प्रदक्षिणा करने में ऊर्ध्वभावना रहती है ।

अर्घ्य से लगाकर दक्षिणापर्यन्त सर्व पूजा-द्रव्य अपने से भिन्न वस्तुएँ हैं । इसके बाद नमस्कार विधि होती है ।

यदि कोई मनुष्य अपनी शरण आजाय तो हम अधोभावना से संतुष्ट होंगे, परन्तु मूर्ति की शरण अपने शरीर को अर्पित करने में ऊर्ध्वभावना रहती है। व्यवहार में मनुष्य शरीर को अपना स्वरूप समझता है, परन्तु परमात्मा की मूर्ति को शरीर अर्पण करने से शरीर पर जो ममत्वरूप अधोभावना होती है वह नष्ट होकर 'यह शरीर परमात्मा की मूर्ति का है' इस प्रकार की ऊर्ध्वभावना उत्पन्न होती है। इसी कारण शरीर को होने वाले सुख दुःख सम्बन्धी ममत्व-भाव परमात्मा को अर्पित होजाने से उन सुख दुःखों के सम्बन्ध में 'परमात्मा की इच्छा से हो प्राप्त हो रहे हैं' ऐसी ऊर्ध्वभावना से ग्रहण करने की पात्रता आजाती है।

मूर्ति को पूजा-द्रव्य समर्पण करने के पहिले उस पूजा-द्रव्य सम्बन्धी पदार्थ में अधोभावना रहती है, परन्तु मूर्ति को समर्पण करने के बाद उसे निर्माल्य या प्रसाद समझने में ऊर्ध्वभावना काम करती है।

आत्मा तो अशरीरी है, फिर भी हमने उसे शरीररूप मान लिया है। उस आत्मा को अरूपी समझने की भावना उत्पन्न करने के लिए काल्पनिक सावयव मूर्ति की आवश्य-कता होती है। माता, पिता, आचार्य, अतिथि आदि प्रत्येक पूज्य व्यक्ति के विषय में ऊर्ध्वभावना का उपयोग करते करते जब उसका विकास होता है तो सब मनुष्यों के सम्बन्ध में पूज्य भावना का निर्माण होता है।

संसार के सब पशुओं के विषय में ऊर्ध्वभावना व्यापक हो; इसीलिए गाय की पूजा का अभ्यास कराया जाता है।

सब वनस्पतियों में ऊर्ध्वभाव व्यापक हों इस के लिये बिल्व, शमी, औदम्बर, तुलसी, चन्दन आदि बनस्पतियों की पूजा का अभ्यास कराया जाता है।

संसार की सम्पूर्ण जलराशि के विषय में ऊर्ध्वभाव व्यापक हों; इसलिए आचार्य के द्वारा दिये गये चरणामृत की तथा गङ्गा, यमुना, सरस्वती आदि नदियों की पूजा का अभ्यास कराया जाता है। सम्पूर्ण आहार-सम्बन्धी ऊर्ध्वभाव व्यापक हों, इसलिए देवता और आचार्य के द्वारा प्राप्त होने वाले अन्न को प्रसाद रूप में पूज्य मानने का अभ्यास कराया जाता है।

संसार के अनेक स्वरूप वस्तु-सम्बन्धी ऊर्ध्व भावना से काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करते जाने से सुख और दुःख का अभाव होकर साधक को ऊर्ध्वरूप का आनन्द प्राप्त होता है। ऊर्ध्वानन्द नामरूपाङ्कित है और परमात्मा नामरूपातीत है। एक अरूपो वस्तु के विषय में काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग किया जाय तो हमें ऊर्ध्व-रूपमय निसर्ग को रूपातीत के निसर्ग में परिणत करने के लिए पूर्ण [○] की उपासना का साधन करना पड़ेगा।

यह चराचर विश्व जिस वस्तु के आधार पर बनता है,

स्थिर रहता है और लय पाता है उसी मूल कारणीभूत-वस्तु को पूर्ण [○] कहते हैं। इसीलिए पूर्ण विश्वबोधक है।

जीव और विश्व दोनों काल और दिशा से मर्यादित हैं इसलिए दोनों अपूर्ण हैं और परमात्मा दिशा और काल से अतीत है इसीलिए वह पूर्ण [○] है।

पूर्ण रूपी परमात्मा के सब लक्षणों को प्रत्यक्ष अनुभव में ला देने वाली अगर कोई वस्तु है तो वह बिन्दु है।

व्याकरण-शास्त्र के नियमानुसार :— व्यञ्जन को वर्ण बनाने के लिए स्वर की आवश्यकता होती है, परन्तु बिन्दु-रूप अनुस्वार को किसी भी स्वर की जरूरत नहीं है इसलिए उसे स्वयंभू कहना चाहिये। स्वर और व्यंजन सापेक्ष होने से वह अपूर्ण है परन्तु बिन्दु रूप अनुस्वार पूर्णत्व के सदृश गुण धर्म युक्त होने से स्वयंभू और निरपेक्ष है। अगर एक के बाद एक अक्षर लिखते जाँय तो कोई न कोई शब्द बन ही जायगा, जिसका नाम रूप भावना के सामने आने लगेगा। उदाहरणतः कमल नामक शब्द लिखने से कमल नामक वस्तु के स्वरुप का बोध होता है परन्तु यदि एक बिन्दु के सामने दूसरा बिन्दु लिखा जाय तो कोई नाम रूप नहीं बनता इस पर से यह मालूम होता है कि शब्द तो नाम रूपांकित है और बिन्दु परमात्मा के समान नाम रूपातीत है।

संसार की भिन्न २ भाषाओं में वर्णों की आकृति भिन्न २ होती है—हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी, बंगाली उर्दू आदि सब लिपियाँ अलग अलग पद्धति से लिखी जाती हैं पर विश्व की सब लिपियों में बिन्दु की आकृति एक समान है। इस पर से परमात्मा के समत्व का बोध होता है।

गणित शास्त्र के अनुसार एक से नव तक अंक लिखने से किसी न किसी संख्या का बोध होता है परन्तु शून्य देखने से किसी वस्तु की संख्या भावना के सामने नहीं आती इस पर से यह सिद्ध होता है कि सब अङ्क गणित हैं और शून्य परमात्मा के समान अगणित है।

गणित के अन्दर सब अङ्क घटते बढ़ते रहते हैं। जोड़ गुणा, बाकी और भाग करने से वह न्यूनाधिक बनते हैं परन्तु शून्य को शून्य से जोड़ो, बाक़ी निकालो, गुणा करो या भाग दो वह कभी घटेगा बढेगा नहीं इस लिये परमात्मा के समान बिन्दु भी अक्षय है।

किसी भी एक के बाद शून्य रखदो तो उस की गणना दस गुणी हो जायगी, एक के बाद शून्य दो तो दस हो जायँगे, दस के बाद शून्य दो तो सौ हो जायँगे, इस प्रकार बढ़ते ही रहेंगे। इस पर से यह सिद्ध होता है कि बिन्दु परमात्मा के समान अनन्त काल तक वृद्धि होने वाला सर्व शक्तिमान तत्व है।

अङ्क के बाद बिन्दु रखने के बजाय अङ्क के पीछे बिन्दु रखदी जाय तो गिनती नहीं होती, इस तरह बिन्दु परमात्मा के समान अगणित है।

खगोल और भूगोल शास्त्र के नियमानुसार—आकाश की तरफ़ देखने से आकाश में बिन्दु सरीखा गोल दीखता है और पृथ्वी के निरीक्षण करने से वह भी गोल बिन्दु सरीखी मालूम होती है इस पर से यह सिद्ध होता है कि जिस प्रकार समस्त चराचर वस्तु परमात्मा के अन्दर व्यापक है उसी प्रकार पृथ्वी और आकाश के गोल बिन्दु में भी व्यापक है। इस तरह हम बिन्दु को विश्वाधार बोधक या परमात्मा बोधक कह सकते हैं।

रेखा शास्त्र के नियमानुसार—बिन्दु एक वस्तु मानी गई है परन्तु वह एक वस्तु है ऐसी कल्पना करें तो उस से किसी भी वस्तु का बोध नहीं होना और कोई वस्तु न मानें तो भी वह भावना गम्य है ही। बिन्दु की अपेक्षा छोटी वस्तु कोई नहीं हो सकती और उस का खण्डन स्थानान्तर भी नहीं हो सकता। इस तरह परमात्मा सरीखा बिन्दु भी नित्य और अचल है। अन्य बिन्दुओं के संयोग से रेखा बनती है। बिन्दु को आकृति नहीं और रेखा को आकृति है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि तत्वों में परमात्मा के समान अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु बिन्दु हैं।

जिस प्रकार ये परमाणु अनन्त हैं उसी प्रकार परमात्मा भी अनन्त है ।

योगशास्त्र के नियमानुसार—प्राणायाम की पद्धति से वायु नियमन कर के परामुखी, शाम्भवी योग मुद्रा का अभ्यास करने से प्रत्येक मनुष्य को नासिकाग्र भृकुटि और ब्रह्मरन्ध्र में प्रकाशमान एक विशिष्ट विन्दु का दर्शन होता है । सारांश यह है कि स्वयंभू, सर्व शक्तिमान, परिपूर्ण नित्य, तृप्त, अविनाशी, अगणित, अक्षय, अचल, अनन्त, विश्व बोधक, नामरूपातीत और नित्यादिक अनेक परमात्मा के लक्षण विन्दु में भरे हुए हैं । प्रत्येक मनुष्य के अन्दर अधो और ऊर्ध्व रूपमयी दृष्टि के निसर्ग को रूपातीत अवस्था में परिवर्तित करने के लिये शिलामय विन्दु के विषय में परमात्मा की भावना करके काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करने से अनन्त ऊर्ध्व रूपों को भूल कर रूपातीत वस्तु गम्य होने की पात्रता प्राप्त होती है ।

सोना और चाँदी आदि धातु विशेष मूल्यवान होने से लोभी लोगों को यह इच्छा होती है कि उन को चुरा लिया जाय और ग़रीब जनता को यह धातुएँ दुर्मिल होती हैं परन्तु श्रीमन्त हो कि ग़रीब, सब जनता को शिलामय विन्दु सहज प्राप्त हो सकता है और सुवर्ण रजत आदि तेजोमय धातु होने से उन पर त्राटक (दृष्टि प्रयोग) का अभ्यास करने से साधक की आंखों के तेज तत्व में कमी होकर दृष्टि

मन्द पड़ जाती है । मनुष्य की आँखों में जो काला बिन्दु है उसी से दृष्टि का विकास होता है, अगर आंखों को बिन्दु का रंग रूप और साधन की बिन्दु का रंग रूप एक ही नमूने का हो तो दृष्टि की स्थिरता में विशेष सहायक होना है, इस तरह अनेक कारणों का विचार किया जाय तो सोने चांदी के विन्दु की अपेक्षा शिला विन्दु ही साधकों के लिये विशेष योग्य है और वह साधन शिला विन्दु मनुष्य की आंखों के काले विन्दु के बराबर होना चाहिये।

बिन्दु दो प्रकार के हैं । सूत्र विन्दु और शिला बिन्दु । यज्ञोपवीत में जो ब्रह्म गाँठ होती है, उस ग्रन्थि को सूत्र बिन्दु कहते हैं । यज्ञोपवीत को वैदिक चिन्ह न मान कर साधकों के लिये सत्य ज्ञान प्राप्त करानेवाला साधन चिन्ह मानना चाहिये ।

उदाहरणार्थः— खेत की चतुःसीमा दिखाने वाले पत्थर होते हैं और खेत को खोदने के लिये हल होते हैं । चतुःसीमा के पत्थर और हल दोनों ही वस्तुएँ एक खेत से सम्बन्ध रखने वाली हैं । अमुक खेत इतना है ऐसा प्रकट करने के लिये जैसे चतुःसीमा बताने वाला पत्थर होता है उसी प्रकार यज्ञोपवीत अमुक वैदिक है और अमुक अवैदिक है, इस प्रकार अखण्ड मानव जाति का खण्ड करने के लिए सीमा दिखाने वाला पत्थर न हो कर खेत की शुद्धि के काम में साधन रूप हल के समान मनुष्य के शरीर पर

परमात्मा बोधक सूत्र बिन्दु. अधोभाव नष्ट कर के ऊर्ध्वभाव पैदा करने वाला उत्तम साधन है। सूत्र बिन्दु को पूर्व साधन समझना चाहिये और शिला बिम्दु को उत्तर साधन। सूत्र रूप से शरीर पर ब्रह्म का चिम्ह अखण्ड होना चाहिये जिस से कि उठते बैठते, चलते फिरते भोगोपभोग- द्रव्यों का उपयोग करते समय शरीर पर रहने वाले उस सूत्र बिम्दु रूप परमात्मा को समर्पण करने की भावना बनी रहे और भोगोपभोग पदार्थों के मम्बन्ध में प्रसाद रूप से पवित्र भावना बनी रहने में सूत्र बिन्दु का सदुपयोग है और साधकों की दृष्टि को रूपातीत वस्तु पर स्थिर करने के लिये शिला बिन्दु की ही आवश्यकता है।

बिन्दु रूपी परमात्मा पर दृष्टि स्थिर करने के लिये साधकों को पहले पहल कठिनाई आती है इस लिये जल, गन्ध, अक्षत, पत्र, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य इत्यादि अनेक द्रव्यों से ऊर्ध्व भावना द्वारा पूर्ण चिम्ह की पूजा करनी चाहिये। प्रति दिन दीर्घ काल तक पूजा करने से उस रूपातीत पूर्ण चिम्ह के स्थान में मन और दृष्टि स्थिर हो जाती है। उस पूर्ण चिन्ह को वायें हाथ में अथवा अपने आंखों के सामने उच्च आसन पर रखना चाहिये। सीधा वैठ कर आँखों की भौहों को न हिलाते हुए त्राटक का अभ्यास करना चाहिये, इस तरह करने से उस पूर्ण चिन्ह पर तेजोमय बिम्दु दीखने लगेगा। वह तेजोमय

बिन्दु स्थिर हो कर साधक के दृष्टि बिन्दु में थोड़ी देर के लिये सहजानन्द की प्रतीति होगी। उस एक देशीय सहजानन्द का विकास करते करते संसार की सम्पूर्ण जड़ चेतन वस्तु जो अनन्त परमाणुओं के योग से साकार बनी हुई हैं उन के स्मरण से अखण्ड सहजानन्द मिल सकता है।

पूजा करते समय सावयव मूर्ति अथवा पूर्ण चिन्ह सम्बन्धी दृष्टि का उपयोग होता है। कान के द्वारा बाहर के शब्द ज़ोर २ से सुनाई दे तो मन की प्रवृत्ति स्वभावतः अधोगामिनी बनती है। आँखों को तो सामने की प्रत्यक्ष वस्तु ही दीखती हैं पर कानों को दूर के शब्द भी सुनाई देते हैं इस से मालूम होता है कि आँखों की अपेक्षा कानों की शक्ति विशेष है। पूज्य वस्तु को देखने के लिये अन्धा, लूला, लङ्गड़ा और रोगी मनुष्य गन्धादि पूजा द्रव्य समर्पण नहीं कर सकता इस लिये उस का भी उद्धार हो जाय इस कारण से पूजा नियम के अतिरिक्त जप और ध्यान को भी आत्म-कल्याण का साधनरूप माना गया।

सारांश यह है कि किसी की ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियाँ प्रबल न हो तो वह मन और जप से ध्यान कर के भी अपना अभ्युदय और निःश्रेयस् सिद्ध कर सके इसलिये जप और ध्यान द्वारा निसर्ग शक्ति ने प्रत्येक को पात्रता दी है।

मन की वृत्ति दूसरों को कहने के लिये मुख को और

सुनने के लिये कान का उपयोग होता है अर्थात् कर्ण और मुख इन दो इन्द्रियों का विषय शब्द है ।

बाल्यावस्था में शिशु-सङ्गोपन करते समय माता गाने बोल बोल कर बच्चों को रिझाती है और बच्चा भी सुन सुन कर आनन्द मानता है; इस पर से यह सिद्ध होता है कि सुस्वर कान पर पड़ते ही जो आनन्द होता है वह प्रत्येक मनुष्य के लिये जन्मतः नैसर्गिक है । उस बालक में ज्यों ज्यों ज्ञान का विकास होता है त्यों त्यों वचनेन्द्रिय के स्थान पर नवीन नवीन शब्दों के प्रयोग करने की शक्ति आती है । मन की वृत्ति मुख से कथन करने तथा बाहर से शब्द कान से सुनने से प्राण और भाव तत्व पर जो विविध नामों के आवरण का निर्माण होता है, उसे नाश करने के लिये परमात्मा के किसी एक नाम के ज़प को आवश्यक माना गया है ।

'बाल्यावस्था में सद्विचारों के संस्कार पड़ें" इस उद्देश से माता-पिता हितोपदेश करते हैं, इस लिये माता पिता की आज्ञा का पालन करना साधकों के लिये पहला जप माना जाता है । उस आज्ञा-जप से बुद्धि का विकास होकर बाहर की सृष्टि का विशेष व्यावहारिक ज्ञान पैदा होता है। ऐसे समय में जिन का आचरण मनुष्य के लिये अनुकरणीय है और जिन्हों ने देश और ईश्वर की सेवा करने के लिये तन, मन और धन समर्पण किया है, ऐसे तपस्वी लोगों

के स्तोत्र छन्दोबद्ध अथवा तालबद्ध भजन करने का शिक्षण दिया जाता है। कर्णेन्द्रिय को स्वभावतः संगीत-श्रवण प्रिय है। मुख के द्वारा अगर उच्च ध्वनि से स्तोत्र गाया जाय तो उस की ध्वनि कर्णेन्द्रिय पर आघात करती है, उस समय दूसरों की बोली सुनने में कान असमर्थ रहते हैं और सम्पूर्ण लक्ष्य एकत्रित हो कर उस काव्य में वर्णन किये हुए महात्मा के गुण और आचरण अपनी भावना के सामने मूर्तिमन्त रूप से खेलने लगते हैं। इस लिये वाह्य संसार के निन्द्य आचरण का त्याग करने की प्रवृत्ति अपने आप कम होती है और उस पुण्य पुरुष के स्तोत्र ऊर्ध्व भावना से गाने के कारण सुसंस्कार रूप से साधक के प्राण और भाव तत्व पर ऊर्ध्व नामावरण निर्माण करते हैं।

गायन करते समय एक आलाप समाप्त कर के दूसरा आलाप पकड़ने तक वायु-निरोध हो कर स्वाभाविक तौर पर कुम्भक हो जाता है और कुम्भक से प्राण नियमित रहता है। ऐसे स्वाभाविक प्राणायाम से शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक स्वास्थ्य उत्तम रहता है और भावों की शक्ति एकत्रित हो कर आत्मबल निर्माण करती है। अधोनाम संबन्धी भावना का उपयोग कर के भोग का विभाजन करने वाले मन्द-बुद्धि जीवों को भी परमेश्वर की भक्ति उत्पन्न हो इस के लिये अनन्त लीलामय परमात्मा के नाम जपने के

साथ साथ गायन को जोड़ दिया गया है। "सत्यं वद" "धर्मं चर" "कृतं स्मर" ऐसा आचार्य उपदेश करते हैं उसके पालन करने से सत्यासत्य का ज्ञान होने लगता है और माता; पिता, गुरु और अतिथि के सम्बन्ध में विशेष भक्ति बढ़ कर सब स्त्री पुरुषों के नाम सम्बन्धी ऊर्ध्व भावना व्यापक होती है।

सूक्त जप के अध्ययन से संसार की चराचर वस्तुओं के नाम सम्बन्धी ऊर्ध्व भावना हो कर साधक के हृदय में विश्वात्मभाव जाग्रत होता है।

"नमो वृक्षेभ्यो, नमो नद्याय, नमो मेध्याय च, नमः कूप्याय च" इत्यादि सूक्त के जप करने से झाड़, नदी, मेघ और कुँए बावड़ी की आकृति भी अपनी भावना के सामने आती है और 'दुनियाँ के सम्पूर्ण नाम रूप ईश्वर के ही हैं' ऐसी भावना व्यापक हो जाती है।

अनेक लोगों का मत है कि वृक्ष, नदी और झाड़ आदि जड़ोपम वस्तु के गुणों का स्मरण कर के जड़ होने की अपेक्षा 'परमात्मा न्यायी और दयालु है' इस भावना से नाम जप करने से ही हम में न्याय और दया का विकास होगा, पर यह कहना योग्य नहीं, क्यों कि अपने विषय में सब लोग न्याय और दया का बर्ताव करें ऐसी इच्छा तो मनुष्य में नैसर्गिक रहती ही है। उस नैसर्गिक न्याय और

का विकास करने के लिये माता पिता और आचार्य की सेवा सुश्रूषा करना ही चाहिये। अगर मनुष्य में निसर्ग द्वारा न्याय और दया नहीं दी जाती तो परमेश्वर से उस की प्राप्ति की आवश्यकता भी नहीं थी, क्यों कि न्याय और दया का पालन करने के लिये दूसरे प्राणियों की आवश्यकता होती है इस लिये उस सम्बन्ध में काल, कर्म और ज्ञान के द्वारा मूल्य प्राप्ति के काम में साधक परतन्त्र होता है।

अन्धे, लंगड़े और गूंगे लोगों को दूसरे के रक्षण के लिये न्याय और दया का पालन करना अशक्य है। ऐसे लोगों को न्यायी और दयालु परमेश्वर का जप करने से क्या फ़ायदा ? परमेश्वर के नाम का जप तो आत्म कल्याण के लिये है, जो प्रत्येक अवस्था वाले मनुष्य के लिये प्रेरणा देने वाला होता है।

परमात्मा के ऐसे ही नाम का जप विशेष उपयोगी है जिस का अर्थ व्यापक और विश्व रूप बोधक हो। ऐसे ही नाम के जप से साधकों के हृदय में से नाम का आवरण दूर हो कर नाम रूपातीत अवस्था प्राप्त होती है। इस लिये व्यापक दृष्टि वाले साधक को ऐसे ही नाम का जप करना चाहिये।

पशु, पक्षी, मनुष्य, धनधान्य, वृक्ष और नदी इत्यादि नाम एक वस्तु के बोधक है। "ॐ" इस प्रणवाक्षर से

संसार की किसी एक वस्तु का बोध नहीं होता। यद्यपि ॐ की ध्वनि कर्णेन्द्रिय—गोचर है तो भी ॐ का जप करते समय भावना रूपातीत रहती है। भावना के सामने कोई रूप दृष्टिगोचर नहीं होता। इस पर से यह सिद्ध है कि ॐ विश्ववाचक है। संसार की प्रत्येक वस्तु की आदि अन्त और मध्य में "ॐ" रहता ही है। वाणी के मध्य में भी कण्ठ, तालु और ओष्ठ क्रम क्रम से आदि, अन्त और मध्य में आते हैं। कण्ठ और ओष्ठ के बीच में संसार के सब नामों का उच्चारण होता है। "ॐ" तीन अक्षरों से बना हुआ है अ, उ, म्। अ कण्ठ्य, उ तालव्य और म् ओष्ठ्य है; इस पर से यह मालूम होता रहता है कि ॐ सकल नाम वाचक है। इन तीन मात्राओं का उच्चारण विना संकल्प के अपने आप भी होता है। जब मनुष्य बीमार होता है तब विना संकल्प के भी ॐ ऽ ऽ ऽ— ॐ ऽ ऽ ऽ ऐसा शब्द सहज निकलता रहता है। गूंगे आदमी को और कोई वर्ण उच्चारण करना नहीं आता परंन्तु अ ऽ ऽ ऽ ऽ ॐ ऽ ऽ ऽ ऽ म् ऽ ऽ ऽ ऽ इन तीनों मात्रा वाली ध्वनियों से दूसरों को सब कुछ समझा देता है।

मनुष्य को किसी ने पुकारा तो अपने आप 'ओ' अक्षर निकल जाता है और दीर्घकाल तक ओ... बोलते रहने

पर जब श्वास लेते समय ओष्ठ बन्द किया जाता है, तब 'म्' का उच्चारण भी सहज हो जाता है ।

पवित्र भावना से मनुष्य इक्कीस दिन तक नित्य १ घण्टा आँखें बन्द कर अन्तर्हृदय में ध्यान लगाते हुए यदि एकान्त में बैठे तो 'ओ' ऐसी ध्वनि अन्दर से अवश्य सुनाई देगी अगर कनिष्ट भावना वाला साधक हुआ तो भी तीन महिने में यह ध्वनि अन्दर से आयगी ही । सारांश यह है कि स्वाभाविक रूप से ॐ की ध्वनि परमात्मा-वाचक होने से इस नाम का जप करना मनुष्य का कर्तव्य है, इस से विश्वात्मक भावना दृढ़ होगी ।

अगर इतना लिखने पर भी किसी को ॐ का जप इष्ट नहीं मालूम हो तो परमात्मा का भाव निर्माण करने वाला किसी भी भाषा का कोई भी शब्द नाम जप के लिये चुन लेना चाहिये और उस का ऊर्ध्व भावना से काल, कर्म और ज्ञान रूप मूल्य का निर्माण कर के आत्म कल्याण करना चाहिये ।

पूजा और जप यह दो विषय स्वतन्त्र नहीं—एक ही हैं । नाम और रूप का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित होने से नाम से रूप और रूप से नाम गोचर होता है । कान और आँख को तथा मुख और हाथ को बाहर की सृष्टि से अन्दर की सृष्टि की तरफ ले जाने के लिये पूजा और जप के नियम का उपदेश है ।

पूर्ण चिन्ह पर दीर्घ काल तक दृष्टि लगा कर मन ही मन ॐ नाम का जप करना चाहिये, इस से पूर्ण पूर्ण चिन्ह पर प्रकाशमान बिन्दु दिखाई देने लगेगा और अन्दर ही अन्दर अखण्ड ॐ की ध्वनि का निनाद जो होता रहता है, सुनाई पड़ेगा। इस प्रकार अधो और ऊर्ध्वादिक सभी वृत्तियों का नाश हो कर नाम रूपातीत शाश्वत वस्तु प्राप्त करने की पात्रता आती है।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि—इस अष्टाङ्ग योग के अभ्यास से साधकों को जो अवस्था प्राप्त होती है वह पूजा, जप और ध्यान से भी होती है। योग शास्त्र के प्रणेता महर्षि पतञ्जलि ने भी "ईश्वर प्रणिधान से योग सिद्धि होती है" ऐसा उल्लेख अपनी रचनो में किया है। योगाभ्यास में तो पूर्ण आरोग्य, आहार-विहार की नियमितता तथा वीर्यरक्षण के साथ-साथ सर्व-सङ्ग-परित्याग आदि अनेक नियमों के पालन करने की आवश्यकता रहती है, और यदि इन नियमों में गड़बड़ होगई तो आरोग्य बिगड़कर योगसिद्धि में बाधा पहुँचती है। संसार के अधिकांश लोगों को अष्टाङ्ग-योग द्वारा सिद्धि प्राप्त करना असाध्य है, परन्तु केवल श्रद्धा के बल पर किसी भी परिस्थिति में मनुष्य पूजा और जप करे तो निश्चित सिद्धि मिलती है; इस लिये पूजा और जप को व्यावहारिक योग कहना चाहिये।

योग शास्त्र के अनुसार चित्तवृत्ति के निरोध को 'योग' कहते हैं। किसी भी तरह के अभ्यास से अगर चित्त की वृत्तियाँ रुक गईं तो उसे योगाभ्यास ही समझना चाहिये। निद्रा के समय भी मनुष्य में वृत्ति निरोध रहता है। उस समय श्वासोच्छ्वास और रक्ताभिसरणादि क्रियाएँ चालू रहती हैं। योग सिद्धि में प्राण के सम्पूर्ण व्यवहार बन्द हो जाते हैं।

पूजा, जप और ध्यान से वृत्तियां निर्मूल हो जाती हैं किन्तु अष्टाङ्ग योग से वृत्तियां निर्मूल नहीं होती, उस से केवल वृत्तियों का निरोध होता है; इस लिये अष्टांग योग की अपेक्षा पूजा और जप के व्यावहारिक योग का आचरण करने से ध्येय की प्राप्ति में विशेष सुलभता होती है और इस तरह भोगोत्पादक भोग विभाजन करने वाले भाव तत्व की परम शुद्धि हो जाती है।

ध्यान

संसार में प्रत्येक मनुष्य की ऐसी भावना रहती है कि दूसरे लोग हम को ध्यान में रक्खें और हमारा स्मरण करते रहें। हम बाहर के अनेक व्यवहार देख कर उस पर मनन करते हैं और ध्यान में रखने योग्य तत्वों को ध्येय मान कर उस के अनुसार आचरण करते हैं। ध्यान में रक्खे बिना ध्येय वस्तु प्राप्त नहीं होती, इस लिये प्रत्येक मनुष्य के लिये ध्यान नैसर्गिक है।

अपनी नैसर्गिक शक्ति का ध्यान विकसित कर के उस शक्ति का सब के लिये उपयोग करना मानव जीवन की सम्पन्नता है। राष्ट्र का ध्येय प्रत्येक मनुष्य को सुख–शान्ति पहुँचाना है। उस ध्येय की सिद्धि के लिये 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, दान, पूजा और जप आदि नियमों का शिक्षण राष्ट्र के प्रत्येक मनुष्य को देना है' यह तत्त्व अगर ध्यान में न रक्खा जाय तो राष्ट्र में सुख-शान्ति कैसे रह सकती है? हम दूसरों को सुखशान्ति न देंगे तो हमें भी सुख-शान्ति नहीं मिलेगी; इस लिये

व्यक्तिगत सुख-शान्ति के लिये प्रत्येक मनुष्य परावलम्बी है। प्रत्येक मनुष्य राष्ट्र का अंशीभूत घटक होने से राष्ट्र के प्रत्येक मनुष्य को अहिंसादिक दस नियमों का उपयोग कर के 'मुझे सब को सुख-शान्ति देने में सहायक बनना है' यह अन्तिम ध्यान अखण्ड रूप से धारण करना चाहिये। ऐसा न करने से राष्ट्र की ओर से हम दण्डित तो नहीं होते परन्तु फिर भी सब की सुख-शान्ति का ध्यान रखना उत्तम से उत्तम मानवीय कर्तव्य है। और ऐसा अमूल्य कर्तव्य करने वाला व्यक्ति राष्ट्र मान्य और विश्व-वन्दनीय होता है।

'अखिल विश्व में प्राणि मात्र को सुख-शान्ति प्राप्त हो' इस अन्तिम ध्येय का ध्यान करते समय अखिल विश्व रूप अगणित साध्य द्रव्य सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग होता है, जिस से कि दुर्भोग का उत्पादन न हो कर सुभोग प्राप्त करने योग्य पात्रता देने वाली मानवता आती है।

लौकिक और पारलौकिक सुख के लिये सेन्द्रिय ध्यान की जरूरत है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों से गोचर होने वाली नाम रूप वस्तुओं का ध्यान करना सेन्द्रिय-ध्यान कहलाता है। इसे हम अधो-ध्यान भी सकते हैं।

भोगोत्पादक और भोग विभाजक—इन दो प्रकार के कर्मों के बीच जीवों के सब व्यवहार चल रहे हैं। भोग

विभाजक कर्म भोगोत्पादक कर्म पर अवलम्बित है । उत्पादन न होने पर विभाजन अपने आप बन्द होता है, इस तरह अनैसर्गिक और ऊर्ध्व भावना से काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करने पर नाम रूपाङ्कित लौकिक पारलौकिक सुख दुःख का भोगोत्पादन होता है और अधोभावना से विभाजन होता हैं । उत्पादक कर्म अगणित हैं, विभाजक कर्म गणित हैं । उत्पादक कर्म नष्ट करने से जीव भावातीत होता है, जिस से उस को अतीन्द्रिय सहजावस्था प्राप्त होती है ।

पूजा और जप के शिक्षण से सेन्द्रिय जगत् नाम रूपात्मक जगत्सम्बन्धी वाह्य दृष्टि का रूपान्तर कर के (आँख और कान की शक्ति को एकत्रित कर के) निरिन्द्रिय-अवस्था में भृकुटि और ब्रह्मरन्ध्र के स्थान पर लक्ष्य लगाकर प्रकाशमान बिन्दु और 'ओं' ध्वनि का अनुभव करता है, उस समय उस प्रकाशमान बिन्दु को भी जानने वाली एक अलग अवस्था की प्रतीति होती है । वह अवस्था दृश्य नहीं द्रष्टा कहलाती है । 'बिन्दु' रूप है, 'ओ' नाम है; ये नाम और रूप दोनों "दृश्य" हैं, इन्हीं को जानने वाला "द्रष्टा" है ।

मनुष्य व्यवहार में मेरे हाथ, मेरे पाँव, मेरी आँखें, मेरे कान; इस प्रकार उल्लेख करता है । इसपर से ऐसा मालूम होता है कि हाथ, पैर, आँख, कान और नाक

आदि दस इन्द्रियों के अतिरिक्त उन पर अधिकार करने वाला "मैं" एक अलग वस्तु है। जब हम एक इन्द्रिय के द्वारा उस के अनुकूल व्यवहार करते हैं तब दूसरी इन्द्रियों के व्यवहार की तरफ अपना ध्यान नहीं जाता। शब्द सुनने के काम में तल्लीन होते समय दूसरी ज्ञानेन्द्रियों के काम की तरफ लक्ष्य नहीं रहता। इसी प्रकार रूप देखने के काम में तल्लीन होते समय अन्य इन्द्रियों के काम में विशेष ध्यान नहीं रहता। इस पर से यह सिद्ध होता है कि सब इन्द्रियों के द्वारा सुख दुःख ग्रहण करने वाली मन नाम की एक पृथक् शक्ति है।

प्रत्येक मनुष्य व्यवहार में ऐसा उद्‌गार निकालता है कि "मेरा मन" इस पर से यह सिद्ध हो सकता है कि मन पर अधिकार करने वाली उस से भिन्न भी कोई शक्ति है। सो कर उठने के बाद मनुष्य ऐसा बोलता है कि 'मुझे गाढ़ी निद्रा आई थी' तो इस गाढ़ी निद्रा को जानने वाला एक अलग तत्व है, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होता है, इस पर से यह प्रमाणित होता है कि जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं से अलग शुद्ध ज्ञान स्वरूप आत्मा है।

जागृति और स्वप्न के समय सुषुप्ति का ज्ञान होता है परन्तु सुषुप्ति के समय जागृति और स्वप्न का ज्ञान नहीं होता। जागृति भौतिक तत्वों से सम्बन्ध रखती है, स्वप्न

प्राण तत्व से सम्बन्ध रखता है और सुषुप्ति भाव तत्व से सम्बन्ध रखती है । भूत सम्बन्धी और प्राण सम्बन्धी आवरण की अपेक्षा भाव सम्बन्धी आवरण को नष्ट करना विशेष महत्व पूर्ण है । नष्ट करने का अर्थ वस्तु का नाश नहीं, तत्वों का पृथक्करण है । संसार के तत्व कभी नष्ट नहीं होते केवल रूपान्तरित होते रहते हैं । स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से स्थूल रूप में परिवर्तित होते रहना विनाश और विकास कहलाता है ।

एक खनिज पदार्थ जिसे आपतत्व कहते हैं, वही क्रूड्-ऑयल्, कैरोसियन और पेट्रोल आदि भिन्न भिन्न नामों से पुकारा जाता है, इस का कारण यह है कि पृथ्वी तत्व के सूक्ष्म परमाणु उस के मूल पदार्थ आपतत्व में जिस परिमाण में अधिक समाविष्ट होते हैं, उस परिमाण में वह जड़ बनता है और जितने परिमाण में कम समाविष्ट होते हैं उतने परिमाण में सूक्ष्म होता जाता है । क्रूड आइल, केरोसिन और पेट्रोल यह नाम क्रमशः आपतत्व में से उत्तरोत्तर शुद्धि संस्कार के द्वारा पृथ्वी के अंश की कमी होने से रक्खे गये हैं ।

भूत, प्राण और भाव इन तीनों आवरणों का नाश करने का अर्थ है कार्यावस्था से मूल कारणावस्था में प्रवेश करना जिसे हम ने भावातीत अथवा सहजावस्था के नाम से पुकारा है ।

आकाश के अन्दर किञ्चित् और महत् दो अवस्थाएँ दिखाई देती हैं—किञ्चित् आकाश को महत् आकाश में मिला देने का 'अर्थ किञ्चित् आकाश को उठा कर महत् आकाश में फैंकना' नहीं है, परन्तु दीवार आदि जिस आवरण से आकाश को किञ्चित् कहा गया है उस आवरण सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग कर के उस आवरण को हटा कर महत्ता प्राप्त करना है। इसी प्रकार जीव को अल्पज्ञ अल्प-कर्तृत्ववान् और एकदेशीय न रख कर सर्वज्ञ सर्व-कर्तृत्ववान् और सार्वदेशीय बना कर उस स्वाभाविक शक्ति से भी ऊपर उठा कर निर्गुणी, अरूपी, सर्वव्यापक और सच्चिदानन्द रूप उस मूल परमात्म तत्व में मिलाने के लिये भूत, प्राण और भाव के आवरण नष्ट करने पड़ते हैं। पूजा और जप से भूत और प्राण के आवरण नष्ट होते हैं और ध्यान से भाव का आवरण नष्ट होता है। 'मैं' बोलने वाला आत्मा शुद्ध ज्ञान में स्थिर होने के बाद नाम रूपात्मक न रह कर साक्षी भूत होता है। इसी लिये वह अजर, अमर और नित्य है और नाम रूपात्मक जड़ - चेतन - प्रकृति - जन्म, मरण आदि भावों से युक्त है। आत्मा अपने मूल धर्म को भूल कर प्रकृति के धर्म को अपना धर्म मानने लगता है इसी लिये उसे जन्म मरणादि दुःखों का आभास होता है।

इस जड़ शरीर के उत्पादक माता पिता हैं, इस लिये जब तक "यह शरीर ही मैं हूँ" यह अज्ञान रहता है,

तब तक आत्मा जड़ सृष्टि के बन्धन में बँधा हुआ है। जब आचार्य की कृपा से द्विजन्मा हो कर 'मैं केवल शुद्ध ज्ञान स्वरूप हूँ' ऐसा अनुभव पाता है, तब उसे बन्धन-मुक्त समझना चाहिये।

साधकों को आत्मा का अनुभव होने पर तत्काल अंतिम मुक्ति नहीं मिलता। आत्मा का अनुभव करते समय वह कर्म के प्रवाह से मुक्त होता है, फिर जब नाम रूपात्मक अभी दृष्टि उत्पन्न होती है तो वह उत्पादक कर्म में पड़ जाता है। एक बार आत्मा का अनुभव करने का अर्थ है 'उत्पादक कर्म का एक अंश नष्ट करना' इसी का नाम 'ध्यान' है और वही ध्यान बार बार करने से धारणा प्राप्त हो जाती है और उस धारणा से उत्पादक कर्म की संगति से दूर रह कर दीर्घ काल तक आत्म-तत्व की संगति करते करते जब सब उत्पादक कर्म नष्ट हो जाते हैं तब अन्त में सहज समाधि-रूप मुक्ति प्राप्त होती है।
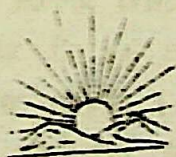
उपसंहार

धर्म के दस नियमों में से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य, दया, क्षमा और दान को पूर्वभाग तथा पूजा, जप और ध्यान को उत्तरभाग समझना चाहिये। पूर्वभाग के सात नियम सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करने से दुर्भोगोत्पादन न होकर सुभोग प्राप्त होता है। पूर्वभाग के सात नियम परस्पर पूरक होने से एक नियम को छोड़ कर दूसरे नियम मनुष्य के कल्याण में अधूरे रहते हैं। इसलिए इन सब नियमों को आचरण में लाना आवश्यक है।

इन सात नियमों में से जिस नियम के सम्बन्ध में नैसर्गिक और ऊर्ध्वभावना से काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग किया जाता है, उसका प्रतिफल उस नियम के सम्बन्ध से सुभोग देकर इच्छित सुख की प्राप्ति के लिए पात्रता का निर्माण करता है। इसप्रकार अहिंसा-नियम के पालन करने से अहिंसामय भोग, सत्य-नियम के पालन करने से सत्यमय भोग, अस्तेय-नियम के पालन करने से अस्तेयमय भोग, ब्रह्मचर्य्य-नियम के पालन करने से ब्रह्मचर्य्यमय भोग

दया-नियम के पालन करने से दयामय भोग, क्षमा-नियम के पालन करने से क्षमामय भोग और दान-नियम के पालन करने से दानमय भोग अर्थात् हम जिस नियम के सम्बन्ध में काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करके उसका पालन करेंगे, उसीप्रकार का भोग हमें भी प्रतिफल के रूप में मिलेगा ।

उदाहरणार्थः— ध्वनि-शास्त्र के नियमानुसार वायु और आकाश इन दोनों तत्वों के आधार से ध्वनि का निर्माण होता है । वाद्य पर वायु के विविध प्रकार से आघात करने के वाद सा, रे, ग, म, प, ध, नि, इन सात स्वरों का निर्माण होता है । जिस स्वरपात्र पर वायु का विशिष्ट आघात कियाजाता है, उसी स्वर का विकास होता है ।

पूर्वभाग के सात नियमों का पशु और मनुष्य के संबन्ध में उपयोग किया जाता है । पशु और मनुष्य अल्पज्ञ होने से इन सात नियमों का पालन करते समय जीव के भाव-तत्त्व पर उत्पन्न होने वाला आनन्द गणित और परिमित होने से आनन्द-तरङ्ग भी साधक के प्राणतत्त्व और भाव-तत्त्व पर गणित और परिमित अवस्था में ही संगृहीत रहते हैं; इसलिए उसका प्रतिफल जन्मान्तर में गणित और परि-मित सुख-रूप में ही विभाजित होता है ।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य, दया, क्षमा और दान ये सात नियम प्रत्येक मनुष्य के लिए नित्य नहीं, नैमित्तिक

हैं। 'अहिंसा हमेशा पालन करनी चाहिये' ऐसा नियम बनाया, पर मानलो हिंसा का अवसर ही किसी दिन सामने नहीं आया तो? 'सत्य-नियम का प्रतिदिन पालन करना चाहिये' ऐसा नियम बनाया, पर कभी किसी व्यक्ति के न मिलने पर बोलने का प्रसङ्ग ही न आया तो? 'प्रति दिन दान करना चाहिये' ऐसा नियम करने वाले के सामने दान लेने वाला कोई व्यक्ति ही न आया तो? 'प्रतिदिन क्षमा करना चाहिये' ऐसा नियम लेने वाले व्यक्ति को कोई अपराधी ही न मिला तो? ऐसी अवस्था में इन नियमों का पालन कैसे किया जासकता है? इस पर से यह सिद्ध होता है कि इन सात नियमों का पालन करने के लिए अपने से भिन्न अन्य प्राणियों की आवश्यकता रहती है, इस लिए किसी प्रसङ्ग निमित्त से ही इनका पालन किया जा सकता है?

उत्तर भाग के पूजा, जप और ध्यान —इन तीन नियमों का पालन करने के लिए अपने से भिन्न अन्य किसी प्राणी की आवश्यकता नहीं रहती; क्यों कि इन में भावना-कल्पित वस्तुओं का उपयोग होता है। सब समय सब मनुष्यों को पूजा, जप और ध्यान अपना-अपना अभ्युदय करने के लिये नित्य नित्य सहायक हैं।

पूजा करने के लिए मिट्टी या शिला की मूर्ति की जरूरत है और कल्पित मूर्ति-रूपी गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी ऊर्ध्व-भावना से काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग होता है।

जप करने के लिए एक विशेष कल्पित मन्त्र रूपी गणित-साध्य-द्रव्य सम्बन्धी ऊर्ध्वभावना से काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग होता है। पूजा और जप के सम्बन्ध में उपयोगी होने वाले काल, कर्म और ज्ञान व्यक्त दशा में रहते हैं।

पूजा और जप के समय पूज्य वस्तु के अन्दर भाव-तत्व प्रकट न होने से साधक के अन्तःस्तल में आनन्द की तरंगें उत्पन्न नहीं होतीं; इसलिए केवल साधक ने जिस भावना से काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग किया है, उसी मूल्य की भोग-प्राप्ति होगी। ध्यान नियम के सम्बन्ध में उपयोग में लाये जाने वाले काल, कर्म और ज्ञान अव्यक्तदशा में रहते हैं। ध्यान करते समय शरीर, मन और बुद्धि आदि तत्वों का द्रष्टा रूप से रहने वाला आत्मा स्वतः ही साध्य बन कर अपने आप में ही अतिसूक्ष्म काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करता हुआ अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति करता है।

पूर्वभाग के सात नियमों के सम्बन्ध में ऊर्ध्व, अधो और नैसर्गिक—इन तीन भाव तत्वों का उपयोग होता है, परन्तु उत्तर भाग के पूजा, जप और ध्यान सम्बन्धी केवल एक ऊर्ध्वभावना का ही उपयोग होता है; इसलिए उत्तर भाग के तीन नियम नियमित रूप से इच्छित सुभोगोत्पादक ही हैं।

प्रत्येक मनुष्य में अपने संरक्षण और विकास का ज्ञान स्वाभाविक रूप से होता है। मनुष्य के शरीर का संरक्षण

करने के लिये अन्न, जल और वायु —इन तीनों की आवश्यकता अनिवार्य हैं। अन्न के अभाव में जितने काल तक प्राण टिकते है, जल-सेवन के अभाव से उतने काल तक नहीं टिक सकते तथा जल-सेवन के अभाव में जितने काल तक प्राण टिकते हैं, वायु-सेवन के अभाव में उतने काल तक नहीं टिक सकते। इस पर से यह सिद्ध होता है कि अन्न की अपेक्षा जल और जल की अपेक्षा वायु प्राण-संरक्षण के लिए विशेष महत्व-पूर्ण हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार अन्न की अपेक्षा वायु की प्राप्ति के लिए विशेष मूल्य चुकाना चाहिये था, परन्तु जीव की विविध परिस्थितियों के अनुसार निसर्ग की कृपा से वायु विना मूल्य ही मिल जाता है। कदाचित् अन्न-जल न भी मिला, तो भी निभ जायगा परन्तु वायु के विना तो क्षणभर भी जीवित नहीं रह सकते। वायु की अपेक्षा अन्न-जल का कम मूल्य होने पर भी संसार के सब प्राणी अन्न-जल के लिए ही काल, कर्म और ज्ञान के द्वारा विशेष मूल्य देकर अपना संरक्षण करते हैं। अगर वायु की प्राप्ति के लिए भी मूल्य देना पड़ता तो मूल्य के न मिलने पर हम वायु के अभाव में अपना संरक्षण करने में अपने आपको असमर्थ पाते। इससे यह सिद्ध होता है कि वायु समान अवस्था में सदा विना मूल्य चुकाये भी हम सभी प्राणधारी जीवों का संरक्षण करता है। ठीक इसी प्रकार पूजा, जप और ध्यान —ये

तीनों नियम ज्ञानी, अज्ञानी, दरिद्र, सशक्त, श्रीमन्त, अशक्त, अन्धे, लूले, लंगड़े —स्त्रियाँ हों चाहे पुरुष किसी भी प्रकार के भेद-भाव को न मानते हुए सब मानव-प्राणियों को स्वाभाविक रूप से सुखी करने में समर्थ हैं; इसलिए मनुष्य का कर्त्तव्य है कि इनका उपयोग करके अपना विकास अवश्य करे।

पूर्वभाग के अहिंसादि सात नियमों का पालन करने में मनुष्य परतन्त्र है, परन्तु उत्तरभाग के तीन नियमों का पालन करने में मनुष्य स्वतन्त्रता-पूर्वक विशेष मूल्य का निर्माण करके सुख-प्राप्ति को सुलभ बना सकता है। निसर्गशक्ति ने सभी अवस्थाओं के मनुष्यों को इन तीन नियमों द्वारा स्वपर-रक्षण तथा विकास की स्वाभाविक पात्रता दी है।

पूजा, जप और ध्यान —इन तीनों का पालन करते समय मूल्य निर्माण कैसे होता है? यह शङ्का व्यर्थ है। ऐसी शङ्का का समाधान यह है कि —वाह्य-वस्तु का उपयोग इन नियमों में नहीं किया जाता; मात्र शरीर की सूक्ष्म-वस्तु की ओर से ही काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग होता है, जिससे कि एक अदृश्य-शक्ति प्रकट होजाती है।

उदाहरणार्थः— व्यायाम करने से शरीर की शक्ति बढ़ती है' ऐसा सबको प्रत्यक्ष अनुभव है। 'शरीर शक्ति-शाली बने' इस सूक्ष्म संकल्प-सम्बन्धी अधोभावना से व्यायाम करने के

लिए काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करने से सूक्ष्म-शक्ति का निर्माण होता है। शरीर की शक्ति में वृद्धि हुई या नहीं ? यह बात परिश्रम से शक्ति का खर्च होते समय मालूम होती है।

बल्ब लगा कर प्रकाश ग्रहण करना, चक्की लगा कर अन्न पीसना, पङ्खा लगा कर हवा लेना आदि कार्य विद्युत्-शक्ति के द्वारा किये जाते समय विद्युत्-शक्ति का विभाजन होता है; उसी समय हमें प्रतीत होता है कि 'विद्युत्' कोई वस्तु है। उत्पादन और संगृह करते समय विद्युत्-शक्ति का अनुभव नहीं होता।

इसी प्रकार पूजा और जप सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करने से अतिसूक्ष्म मूल्य निर्मित होकर अदृश्य-अवस्था में ही प्राण और भाव—इन दोनों तत्वों में संचित रहता है।

जीव पूर्वकर्मानुसार प्राप्त सुख दुःख का भोग भोग कर जिस भोग के सम्बन्ध में उसकी तृप्ति नहीं होती वह भोग प्राप्त हो—ऐसा सङ्कल्प पुनः पुनः करता है। उस सङ्कल्प के अनुसार संगृहीत मूल्य से जन्मान्तर में भोगोपभोग की वस्तुऐं मिल कर अधोभावना से विभाजित होजाती हैं।

अधोभावना से काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करने पर सुख-दुःख और हानि-लाभ से उसका प्रत्यक्ष फल निक-

लता है। ऊर्ध्वभावना से काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करने पर उस मूल्य का परिणाम वर्त्तमान काल में नहीं दिखाई पड़ता; इस पर से यह सिद्ध होता है कि ऊर्ध्व-भावना से निष्पन्न होने वाला मूल्य भविष्य काल में भोग-विभाजन के काम आता है। लौकिक और पारलौकिक सुख की प्राप्ति हो —ऐसी इच्छा सब जीवों की रहती है, पर इस इच्छा के अनुसार वह ऊर्ध्वभावना का उपयोग न करके अनैसर्गिक भावना का उपयोग करता है, जिससे दुःखावस्था का निर्माण होकर अभीष्ट-वस्तु की प्राप्ति के लिए वह अपात्र बनजाता है। सब भोग्य वस्तुओं को प्राप्त करने का अर्थ यह नहीं है कि जड़-चेतन भोग्य वस्तुओं का निर्माण किया जाता है। वस्तु प्राप्त करने का अर्थ यही है कि इच्छित सुखद वस्तु और उसकी प्राप्ति की इच्छा करने वाले जीव के बीच में जो आवरण आया है उस को नष्ट करना।

मानलो किसी स्त्री को ऐसी इच्छा हुई कि मुझे अच्छा पति मिले अथवा किसी पुरुष को ऐसी इच्छा हुई कि मुझे अच्छी स्त्री मिले —ये दोनों जीव परस्पर सापेक्ष हैं। अब पत्नी और पति के प्राप्त होने में जो बीच में आवरण लगा हुआ है, उसे दूर करने के लिए पूजा और जप नियम सम्बन्धी ऊर्ध्व भावना से काल; कर्म और ज्ञान का उपयोग किया जाय तो दोनों जीवों के अन्दर पति-पत्नी होने योग्य मूल्य का निर्माण होता है।

अहिंसादि सात नियमों की अपेक्षा पूजा, जप और ध्यान इन तीन नियमों सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करने से विशेष मूल्य का निर्माण होता है।

काल तत्व में ज्ञान का उपयोग कम और शारीरिक श्रम का उपयोग अधिक करने से किञ्चित् मूल्य का निर्माण होता है।

काल तत्व में शारीरिक श्रम का उपयोग किंचित् और ज्ञान का उपयोग विशेष करने से अधिक मूल्य का निर्माण होता है। सारांश यह है कि शारीरिक श्रम की अपेक्षा मानसिक श्रम से विशेष मूल्य निर्माण होता है।

अहिंसादिक सात नियम सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करते समय ज्ञान की एकतानता नहीं होती, इसलिए विशेष मूल्य का निर्माण नहीं होता और पूजा, जप और ध्यान नियम सम्बन्धी काल, कर्म और ज्ञान का उपयोग करते समय ज्ञान की तन्मयता विशेष रहती है, इस लिए मूल्य भी विशेष निर्माण होता है।

राष्ट्र के प्रत्येक मनुष्य को मानव-धर्म से सम्बन्ध रखने वाले इन दस नियमों का शिक्षण देकर व्यष्टि और समष्टि की सुख-शान्ति के लिए अपनी प्रजा में पात्रता निर्माण करने का प्रयत्न राष्ट्र की सरकार को करना चाहिये जिससे स्वराज्य का सुराज्य हो जाय। अन्त में उस जगन्नियन्ता से यही प्रार्थना है कि सब राष्ट्रों में 'सुराज्य' स्थापित हो।

॥ समाप्त ॥

सुराज्य-विज्ञान ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ द्रव्य सहायकों की सूचि

वैराग

५०१) श्री विश्वनाथ घोंगडे

कनकट

५०१) श्री चन्नापा मुस्तापुरे

५०१) श्री संगप्पा मुस्तापुरे

५१) श्री चोलप्पा धुलारे

२५) श्री रामशेखर शंकरशेठे

बार्शी

१०१) श्री महादेवप्पा गुडे

२१) श्री धुन्डिराज महादेवस्वामी पकाले मास्तर

होन्नली

१०१) श्री भाऊराव पाटील

हलीखेड

१०१) श्री गुरुलिंग मैत्री

हरंगुल

१०१) श्री त्र्यंबकराव पाटील

२५) पढरीनाथ भूपे

दैटणा

१०१) श्री भगवन्तराव पाटील

४१) श्री सखाराम रड्डी

लातूर

५१) श्री शंकरलालजी पुरो०

अहमदपुर

५१) श्री मन्मथस्वामी वीरमठ

पाथर्डी

५१) श्री गणपतराव कौरे

बोथी

५१) श्री मादप्पा अक्कनवरू

४१) श्री गुरुपादप्पा अक्कनवरु

गवडगोव

५१) श्री भीमराय पाटील

राजोल

५१) श्री शरणप्पा खुबा

२५) श्री विरय्या मटपत्ती

डोणगोपुर

५१) श्री मरेप्पा पावडशट्टी

५५) श्री चन्नापा कोलाटे

गोरटा

१५१) श्रीशरणप्पा बसप्पा गौरे

१३५) श्रीबसतीर्थप्पा बिरादार

१०१) श्रीसिद्धरामय्यास्वं:पटवादी

२५) श्री रेणप्पा मटपत्ती

२५) श्री सिद्धरामय्या मटपत्ती

२५) श्री गुरुपादय्या पटवादी

२५) श्री शङ्करेप्पा कनकटे

२५) श्री गुन्डप्पा सुतार

२५) श्रीसिद्धरामप्पा पोलिसपा०

२५) श्री गुरप्पा मम्मा

२५) श्री अप्पाराय मम्मा

२५) श्री मडीवालप्पा इन्द्राले

२१) श्री सिद्धरामप्पा किट्टे

१०) दे० भ० हुतात्मा राचय्या मटपत्ती प्रीत्यर्थ

१०) श्री सिद्धप्पा मेत्री.

नारायणपुर

२२५) श्री अणारड्डी पाटील
५१) श्री मलरड्डी पाटील
५१) श्री गणपतराव मोटे
२५) श्री तुकारड्डी पाटील
२५) श्री शिवरड्डी राजोले
२५) ,, गुरप्पा गोरटे
११) ,, गुन्डप्पा वरवटे
११) ,, राचय्या मौलकेरी
११) ,, गुरप्पा मन्टाले
११) ,, माणिकप्पा पेदे
११) ,, सलवय्या मठ
११) ,, तिप्पण्णा मुलगे
११) ,, वीरभद्रप्पा कुरकोटे
१०) ,, वसप्पा मासीमाडे

केम

२५) ,, जगन्नाथ सदोबावासकर

चाकूर

५१) ,, संगण्णा करञ्जकर
४१) ,, रामलिंगस्वामी मटपत्ती
३५) ,, संगय्या स्वामी वकील
२५) ,, काडप्पा कोर्ती
२१) ,, शिवमूर्ति मटपत्ती
२१) ,, होनैयास्वामी गजभार

मठ

१५) ,, जयवन्ता

उजेड

२१) श्री बाजीराव पाटील
२१) श्री संग्राम पाटील
२०) श्री सदाशिव कदम
३६) श्री विट्ठलहनमन्त रड्डी
१५) श्री धोंडीबा बिरादार
१६) ,, भीमराव पाटील
१५) ,, शामराव बिरादार
१०) ,, लिंबाजी जाधव
१०) ,, जोतीराम
१०) ,, वामनराव
१०) ,, भाऊराव
१०) ,, नदीम पाटील
१०) ,, शिवलिङ्गस्वामी मठ
७०) ,, सार्वजनिक जनता

सांगवी

१०) ,, मल्लिकार्जुन निला
१५) सौ० गङ्गाबाई

चिञ्चोली

११) श्री चन्नापा पटणे

तेरखेड

२५) ,, रामलिंगप्पाबालके
१०) ,, शंकरप्पा अवटे
१०) बाबूराव अवटे
१०) ,, वैजनाथ उमरदण्ड
४६) सार्वजनिक जनता

पिंपलगाम

) श्री त्र्यंबकप्पा थोटे